

प्रकाशक :—

संन्यायी, आत्म-जागृति कार्यालय,
जैन-गुरुकुल, व्यावर

प्रथमावृत्ति, प्रतियाँ १०००

मूल्य दस आना]

१६४२

[वि० सं० १६६८]

अनुक :—

रामस्वरूप मिश्र, मैनेज
मनोहर प्रिण्टिङ्ग वर्कस व्यावर

मस्ताकन

भारतीय दर्शन-शास्त्रों में जैन दर्शन का स्थान अति महत्व का है और उसका प्रभुत्व कारण उसकी मौलिकता, व्यापकता और विशदता है। जगत् के समस्त भगवों और भक्तों का निषठाग करने के लिये जैन-दर्शन ने जो अपूर्व चीज जगत् की सेवा में समर्पित की है वह स्याद्वाद है और यह जैनदर्शन की मौलिकता है। स्याद्वाद ही जैन नीति का मूलमन्त्र है और उसका निर्माण प्रमाण और नय, इन दो तत्त्वों की भिति पर ही दृष्टा है क्योंकि जैन दर्शन के ये ही प्राणभूततत्त्व हैं।

ग्रन्थ का महत्त्व

न्याय-शास्त्र के विराल मन्दिर में प्रवेश करने के लिये प्रथम तार्किक भी देवगुरि ने भी माणिक्यनन्दि के 'परीक्षा ग्रन्थ' ग्रंथ की शैली पर प्रानुत पुस्तक की रचना करके प्रथम सोपान बना देने का काम किया है।

'प्रमाणनयैरधिगमः'—यह बात अनुभवगाम्य होने पर भी प्रमाण और नय क्या है ? उनके स्वरूप-वर्णना-विषय क्या आदि क्या है ? उसका विशेष परिचय प्राप्त करना अनिवार्य है। हमलिये प्रानुत पुस्तक में प्रमाण और नय इन दो तत्त्वों पर ही सुन्दर ढंग से बाष्पी प्रकाश डाला गया है। यही बात है कि प्रानुत पुस्तक संक्षिप्त होने पर भी सुन्दर और गारगर्भित है। न्याय-शास्त्र के सागर को प्रानुत पुस्तक स्वी सागर में भर देने का जो बौद्ध गुरिजी ने बताया है वह वास्तव में प्रशंसनीय है। जैन न्याय को अच्छी तरह समझने के लिये हमें बुझी कड़ा आ सक्ता है।

दिया है। इसके अनिश्चित उन्होंने और भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस प्रकार भी देवगुरि धर्मोपदेश, ग्रन्थ-रचना, बाद-विवाद आदि प्रवृत्तियों द्वारा जिनराममन समुग्धल कहते हुये वि० सं० १००६ में भट्टेश्वर मूर्ति को गच्छाभार सौंप कर आद्यगु कृष्ण सप्तमी के दिन ऐदिक जीवनलीला समाप्त कर स्वर्गधाम की प्राप्त हुये।

इस ग्रन्थ की टीकाएँ और अनुवाद

इस ग्रन्थ की उपयोगिता और उपदेश्यता इसी से सिद्ध हो जाती है कि स्वयं ग्रन्थकार ने ही इस ग्रन्थ के अर्थगोभीर्य को परिष्कृत करने के लिये पञ्च हजार श्लोक-परिमाण में 'न्यायाद्वयज्ञाकर' नामक बृहद् ग्रन्थ इस की रचना की है और उन्हीं के शिष्य इस भी रचनानिहजी ने 'रामाद्वयज्ञाकरिका' नामक सुन्दर सुसंस्कृत न्याय-ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ वर्तमान में 'न्यायनीति' की परीक्षा में नियत किया गया है।

न्यायाद्वयज्ञाकर को अनि विमृष्ट होने के कारण इसका अनुवाद होना बहिनमा है लेकिन रामाद्वयज्ञाकरिका का तो परिद्वयज्ञी जैसे नैययिक द्वारा माल सुषोष राष्ट्रीय भाषा में विवेचन और प्रामाणिक अनुवादन करा कर प्रसिद्धि में लाना नितान्त आवश्यक है। जेम्स प्रेरणाप्रद प्रकाशन के द्वारा ही ग्रन्थ-औरव बढ़ सकता है, न्याय-ग्रन्थ पढ़ने की अनिवार्य बढ़ सकती है और जन-सामूह जैन-दर्शन की समृद्धि में परिचित हो सकता है।

ग्रन्थ की उपयोगिता और प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत ग्रन्थ की उपयोगिता को लक्ष्य में लेकर बालराम-संस्कृत-एगोमिशन ने जैन-न्याय की प्रथम कृति दिया है। प्रतिवर्ष अनेक छात्र जैन न्याय

दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का पठन-पाठन जैन-समाज में काफी होता है किन्तु ऐसी उपयोगी पुस्तक का जन-साधारण भी लाभ उठा सके और विषय जटिलता के कारण छात्र जो परेशानी अनुभव कर रहे वह दूर की जा सके, इस और अभी तक किसी का ध्यान न गया था। इस अभाव की पूर्ति आज की जा रही है और वह ऐसे प्रौढ़ परिष्ठनजी के द्वारा जिन्होंने सैकड़ों की तादाद में छात्रों को न्याय-शास्त्र पढ़ाया है और 'न्यायतीर्थ' भी बना दिया है।

इस सरल सुबोध विवेचन और अनुवाद द्वारा छात्रों : बहुतसी परेशानी कम हो जायगी और जो न्याय-शास्त्र को जटिल समझ कर न्याय शास्त्र से दूर भागते हैं उन्हें यह अनुवाद प्रशमन पथ-प्रदर्शन करेगा। इसके अतिरिक्त जो संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ हैं वे भी प्रस्तुत पुस्तक के आधार पर न्यायशास्त्र में प्रवेश कर सकेंगे।

ग्रन्थ का सम्पादन, विवेचन और अनुवादन कितनी सावधानी पूर्वक हुआ है यह तो पुस्तक के पठन-पाठन से ज्ञान हो ही जायगा। जैन न्याय के पारिभाषिक शब्दों की विशद व्याख्या इस पुस्तक में की गई है तथा छात्रों की शंकाओं का सम्प्रमाण समाधान करने का प्रयास किया गया है—यह इसकी विशेषता है जो छात्रों के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रस्तुत न्याय-ग्रन्थ का ऐसा सुन्दर छात्रोपयोगी संस्करण निकालने के लिये अनुवादक और प्रकाशक दोनों धन्यवादार्ह हैं।

ग्रन्थ की उपदेयता पाठ्यक्रम में अपना स्थान अवश्य प्राप्त कर लेगी ऐसी शुभारंभ है। मुझे कि बहुत।

ता० १-१-४२ ई०
व्यावर }

—शान्तिशाल बनमाली शेट

प्रासंगिक

—१६०—

प्रमाण-नय-तत्त्वशालोक, न्यायशास्त्र का प्रवेश-ग्रन्थ है। इसे विभिन्न अध्ययन करने के पक्षान् ही न्यायशास्त्र में आगे कदम बढ़ाया जा सकता है। यही कारण है कि प्रायः सभी शैक्षणिकीय परीक्षाओं के पाठ्यक्रमों में यह नियुक्त किया गया है।

— इस प्रकार पर्याप्त पठन-पाठन होने पर भी अब तक हिन्दी भाषा में इसका अनुवाद नहीं हुआ था। इसमें छात्रों को तथा अन्य न्यायशास्त्र के विद्वानों को बड़ी अध्ययन पड़ती थी। यही अध्ययन दूर करने के लिए यह प्रयाग किया गया है। अनुवाद में सरलता और संक्षेप का ध्यान रखा गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ को संक्षेप भाषे विद्यार्थियों के सामने रखकर उनमें 'प्राग' करा लिया गया है।

न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक अध्यामियों को हमने बहुत कुछ सरलता मिलेगी, लेगी आता है। विद्वान् अध्यापकों में यह अनुरोध है कि वे इसकी छुटियाँ दिखाने की कृपा करें, ताकि आगामी संस्करण अधिक उपयोगी और विस्तृत हो सके।

—शोभाचन्द्र भारद्वाज

प्रमाण-नय-तत्त्वकालोक

के

विषयानुक्रम



१—प्रथम परिच्छेद—प्रमाण का स्वरूप	पृ० १
२—द्वितीय परिच्छेद—प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद	पृ० १३
३—तृतीय परिच्छेद—परोक्ष-प्रमाण का निरूपण,...	पृ० ३६
४—चतुर्थ परिच्छेद—आगम प्रमाण का स्वरूप ...	पृ० ७५
५—पञ्चम परिच्छेद—प्रमाण का विषय	पृ० ६४
६—षष्ठ परिच्छेद—प्रमाण का फल	पृ० ६६
७—सप्तम परिच्छेद—नय का स्वरूप	पृ० १३४
८—अष्टम परिच्छेद—वाद का स्वरूप,.....	पृ० १४६



प्रमाण-मय-तत्कालोक्त

—०६०—

प्रथम परिच्छेद

मंगलाचरण

रामद्वेषविजेतारं, शार्ङ्गारं विष्णुपुत्रम् ।
शक्रपूज्यं गिरामीशं, तीर्थेशं रघुतिमानपि ॥

अर्थ—राम जीर द्वेष को जीतने वाले—बीतमान, रामस्य
वस्तुओं को जानने वाले—सर्वज्ञ, इन्द्रो द्वारा पूजनीय तथा शाली के
स्वामी तीर्थेश्वर भगवान् को मैं स्मरण करता हूँ ।

विवेचन—संघ-वचना में आने वाले विग्रहों का निवारण करने
के लिए आगतिक संघकार अपने संघ की आदि में मंगलाचरण करने
हैं । मंगलाचरण करने में विग्रह-निवारण के अतिरिक्त शिष्टाचार का
पावन भी होता है और वक्तव्य का प्रचारण भी ।

सगुण मंगलाचरण में 'तीर्थेश' का स्मरण किया गया है ।
शालू, शाली, शालक, आदिना, यह बहुविध संघ तीर्थें प्रमाण है ।
तीर्थ के स्वामी को तीर्थेश करने हैं ।

तीर्थेश के अर्थ का विवेचन है । यह विवेचन ब्रह्मा
वर्ण के चार गुण अक्षरों के अर्थ विवेचनों के सूत्र है । चार

अभिगम यह है — (१) अनापत्तागम अभिगम (२) गम -
(३) गूढाभिगम (४) वरणाभिगम ।

संग का प्रयोग

॥ प्रमाणनयनपर्यायार्थमिदमुपक्रम्यते ॥१॥

अर्थ—प्रमाण और नय के अर्थ का निग्रह करने के ।
यह संग आरम्भ किया जाता है ।

प्रमाण का अर्थ

॥ स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ॥२॥

अर्थ—स्व और पर को निश्चिन्त रूप में जानने वाला
प्रमाण कहलाता है ।

विवेक—अन्यत्र पदार्थों के निर्णय की कर्मोद्दी प्रमाण ही है ।
अतएव सर्वप्रथम प्रमाण का लक्षण बताया गया है । यहाँ 'स्व' का
अर्थ ज्ञान है और 'पर' का अर्थ है ज्ञान में भिन्न पदार्थ । तात्पर्य यह
है कि वही ज्ञान प्रमाण माना जाता है जो अपने-आपको भी जानने
और दूसरे पदार्थों को भी जानने, और वह भी यथार्थ तथा निश्चित
रूप से ।

ज्ञान ही प्रमाण है

अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारवर्म हि प्रमाणं,
अतो ज्ञानमेवेदम् ॥३॥

अर्थ—ग्रहण करने योग्य और त्याग करने योग्य वस्तु को
स्वीकार करने तथा त्याग करने में प्रमाण समर्थ होता है, अतः ज्ञान
ही प्रमाण है ।

जैसे घट । सन्निकर्ष स्व-पर के निश्चय में कारण नहीं है । प्रमाण सही है ।

सन्निकर्ष स्व-पर स्व-निर्णय ही नहीं है

न सन्वयस्य स्वनिर्णीता कारणव्यम्, सम्प्रति
चेतनव्यान् ॥ नाप्यर्थनिश्चिनां स्वनिश्चिनावकाशस्य क
देति तत्राप्यकरणव्यान् ॥५॥

अर्थ—सन्निकर्ष आदि स्व-निर्णय में कारण नहीं है, बल्कि ये अचेतन हैं; जैसे स्वप्ना वगैरह । सन्निकर्ष आदि अर्थ (फल) के निर्णय में भी कारण नहीं है, क्योंकि जो स्व-निर्णय में कारण होता वह अर्थ के निर्णय में भी कारण नहीं होता, जैसे घट आदि ।

विवेचन—सन्निकर्ष की प्रमाणता का निषेध करने के हैं 'यह स्व-पर के निश्चय में कारण नहीं है' यह हेतु दिया गया किन्तु यह हेतु प्रतिवादी-वैरोधिक को सिद्ध नहीं है और न्याय-श के अनुसार हेतु प्रतिवादी को भी सिद्ध होना चाहिए । जिस हेतु प्रतिवादी स्वीकार नहीं करता वह अमिद्ध हेत्वाभास हो जाता है । इस प्रकार जब हेतु अमिद्ध हो जाता है तब उस हेतु को माध्य बन कर उसे सिद्ध करने के लिए दूसरे हेतु का प्रयोग करना पड़ता है । यहां यही पद्धति उपयोग में ली गई है । पूर्वोक्त हेतु के दो स्वरूप करके दोनों को सिद्ध करने के लिए यहां दो हेतु दिये गये हैं ।

भाव यह है—सन्निकर्ष स्व के निश्चय में कारण नहीं है, क्योंकि यह अचेतन है; जो-जो अचेतन होता है वह-वह स्व-निश्चय में कारण नहीं होता, जैसे स्तम्भ । तथा—

सन्निकर्ष पर-पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि वह पना (स्व का) निश्चय नहीं कर सकता, जो अपने निश्चय नहीं कर सकता वह पर-पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता; जैसे घट ।

प्रमाण निश्चयात्मक है

तद् व्यवसायस्वभावं समारोपपरिपन्थित्वान् प्रमाण-
त्वात् ॥६॥

अर्थ—प्रमाण व्यवसाय रूप है, क्योंकि वह समारोप का विरोधी है अथवा प्रमाण व्यवसाय रूप है, क्योंकि वह प्रमाण है ।

विवेचन—प्रमाण का लक्षण बताने समय इसे निश्चयात्मक कहा था; पर चौद्ध दर्शन में निर्विकल्प ज्ञान भी प्रमाण माना जाता है । जैनदर्शन में जिसे दर्शनोपयोग कहते हैं और जिसे सिर्फ सामान्य का बोध होता है वही चौद्धों का निर्विकल्प ज्ञान है । निर्विकल्प ज्ञान की प्रमाणता का निषेध करके यही यह बताया गया है कि प्रमाण निश्चयात्मक है । निर्विकल्प ज्ञान में 'यह घट है, यह घट है', इत्यादि विरोधों का ज्ञान नहीं होता, इसी कारण यह ज्ञान प्रमाण नहीं है ।

यहाँ प्रमाण को व्यवसाय-स्वभाव कहा है, इसमें यह फलित होता है कि संशय-ज्ञान, विपरीत ज्ञान और अनव्यवसाय भी प्रमाण नहीं हैं ।

सूत्र का भाव यह है—प्रमाण व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) है, क्योंकि वह समारोप—संशय, विपर्यय, अनव्यवसाय विरोधी है; जो व्यवसायात्मक नहीं होता वह समारोप का निश्चय नहीं होता, जैसे घट । तथा—

संशय-समारोप

साधकबाधकप्रमाणामावादनवस्थितानेककोटिमंस्पर्शानं संशयः ॥१२॥ ।

यथा—अयं स्याणुर्वा पुरुषो वा ॥१३॥ ।

अर्थ—साधक प्रमाण और बाधक प्रमाण का अभाव होने, अनिश्चित अनेक अंशों को छूने वाला ज्ञान संशय कहलाता है ।

जैसे—यह छूट है या पुरुष है ?

विवेचन—यहाँ संशय-ज्ञान का स्वरूप और कारण बतलाया जा है । साथ ही उदाहरण का भी उल्लेख कर दिया गया है ।

एक ही वस्तु में अनेक अंशों को स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय है, जैसे छूटपन और पुरुषपन दो अंश हैं । इस ज्ञान के समर्थ छूट का मिट्ट बताने वाला कोई प्रमाण होता है, न पुरुष का निरर्थक होने वाला ही प्रमाण होता है । छूट और पुरुष दोनों में समान रूप । रहने वाली उंचाई मात्र मान्य दोनों हैं । एक को दूसरे से भिन्न करने वाला कोई विशेष धर्म मालूम नहीं होता ।

विपर्यय और संशय का भेद—विपर्यय ज्ञान में एक अंश का ज्ञान होता है, संशय में अनेक अंशों का । विपर्यय में एक अंश अधिक होता है, संशय में दोनों अंश अनिश्चित होने हैं ।

अवधारण-समारोप

किमित्पालोचनमात्रमन्यप्यवमायः ॥१३॥ ।

यथा-गच्छतृणस्पर्शज्ञानम् ॥१४॥ ।

पर शब्द का अर्थ समझाने के लिए अलग सूत्र रचने का प्रयोजन है। पट, पट आदि पदार्थों के सम्बन्ध में अनेक मत बाँटों में एक माध्यमिक सम्प्रदाय है। वह पट आदि बाह्यों को और ज्ञान आदि आन्तरिक पदार्थों को मिथ्या मानता है। शून्यवादी है। उसके मत के अनुसार जगत् का यह समस्त प्रपञ्च या है, वास्तव में कोई भी पदार्थ मनु नहीं है। अनादि कालीन या संस्कार के कारण हमें यह पदार्थ मालूम होने हैं।

माध्यमिक के अनिरिक्त वेदान्ती लोग भी बाह्य पदार्थों को या समझते हैं। इनके मत में एकमात्र ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म के अनिरिक्त अन्य समस्त प्रतीत होने वाले पदार्थ अमनु हैं। तै में भी एक सम्प्रदाय भिन्न ज्ञान को धारमयिक मानता है और

प्रकार बाह्य दर्शन और वेदान्त दर्शन का विरोध करने के लिए बाध ने इस सूत्र का निर्माण किया है।

स्वप्नवशात् का समर्पण

स्वस्य व्यवसायः स्वाभिमुख्येन प्रकाशनम्, पादस्यैव अभिमुख्येन; कश्चिदलभकमहमात्मना जानामि ॥१६॥

व्यवसाय—बाह्य पदार्थ को और उन्मुख होने पर जो ज्ञान है वह बाह्य पदार्थ का व्यवसाय कहलाता है, इसी प्रकार ज्ञान की ओर उन्मुख होकर जो जानता है वह स्व का व्यवसाय कहलाता है—मैं, अपने ज्ञान द्वारा, हाथी के रूप के, जानता है।

विशेष—यहाँ भी स्व-व्यवसाय का दृष्टान्त के साथ समर्थन
 दिया गया है। जो ज्ञान बाह्य पदार्थ—पद आदि को जानता है वही
 ज्ञाने-आपको भी जान लेता है। हमें बाह्य पदार्थ का ज्ञान हो जाय
 न्तु यह ज्ञान न हो कि 'हमें बाह्य पदार्थ का ज्ञान हुआ है' ऐसा
 भी सम्भव नहीं है। बाह्य पदार्थ के ज्ञान लेने को जब तक हम न
 लेते तब तक वास्तव में बाह्य पदार्थ का जानना सम्भव नहीं है।
 मैं सूर्य के प्रकाश द्वारा पद आदि पदार्थों को जब दृष्ट देता लेता हूँ
 व सूर्य के प्रकाश को भी अवश्य देखता हूँ, उगी प्रकाश जब ज्ञान
 का विगी पदार्थ को जानता है तब ज्ञान को भी अवश्य जानता हूँ।
 मैं सूर्य के प्रकाश को देखने के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता
 ही होती उगी प्रकाश ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आव-
 यकता नहीं होती। जैसे सूर्य अन्तर्देख नहीं रहता उगी प्रकाश ज्ञान
 की अन्तर्ज्ञान नहीं रहता।

प्रमाणता का स्वरूप

ज्ञानस्य प्रमेयाख्यभिचारित्वं प्रामाण्यम् ॥ तदित्यस्य-
 प्रामाण्यम् ॥ १५॥

अर्थ—प्रमेय में अख्यभिचारी होता—अर्थात् प्रमेय पदार्थ
 होता है उसे देखा ही जानता, वही ज्ञान की प्रमाणता है।

हमने बिना अप्रमाणता है अर्थात् प्रमेय पदार्थ को वस्तु-
 त्व में न जानता—ऐसा नहीं है देखा जानता—अप्रमाणता है।

विशेष—जो वस्तु ऐसी है जो उगी रूप में जानता ज्ञान
 की प्रमाणता है और अन्य रूप में जानता अप्रमाणता है। प्रमाणता
 और अप्रमाणता का यह भेद वस्तु पदार्थों की अनेक समानता

जब कोई वस्तु बार-बार के परिचय से अभ्यास हो जाती है तब वस्तु का ज्ञान होने ही कम ज्ञान की प्रमाणता (मचार्ह) का निश्चय हो जाता है। जैसे—गुरु अपने शिष्य को प्रतिदिन देखता इस अभ्यास-दशा में शिष्य का प्रत्यक्ष होते ही गुरु को अपने विषयक ज्ञान की प्रमाणता का भी निश्चय हो जाता है। शिष्य देख कर गुरु यह नहीं सोचना कि मुझे अपने शिष्य का ज्ञान हो है सो यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं? इसी को अभ्यास दशा में ज्ञान हो जाता कहते हैं।

जब कोई वस्तु अपरिचित होती है तब उसका ज्ञान हो जाने पर भी कम ज्ञान की प्रमाणता (मचार्ह) का निश्चय सम्पादित हो जाता। यह सोचने लगता है—मुझे वस्तु का ज्ञान हुआ है पर न जाने यह ज्ञान मच्छा है या मिथ्या? इसके बाद कम ज्ञान को पुष्ट करने वाला कारण अगर मिल जाता है तो उसे अपने ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय हो जाता है; इसी को अनभ्यास दशा में परतः ज्ञान (निरचय) कहते हैं। इसके विपरीत यदि ज्ञान में मिथ्या निश्चय करने वाला कोई कारण मिल जाता है तो यह पुरुष अपने ज्ञान की अप्रमाणता का निश्चय कर लेता है।

यहाँ सामान्य ज्ञान हो जाने पर भी कम ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का निश्चय दूसरे कारण से होता है। अनभ्यास दशा में प्रमाणता और अप्रमाणता का निश्चय परतः कहा गया है।

मीमांसक लोग प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञान परतः हो जाने की और अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञान परतः हो जाने के अर्थ सूत्र में उनके मत का निरसन किया गया है।

रागे तीसरे अध्याय में परोक्ष के पांच भेद बतलाये जायेंगे । अनुमान और आगम भी हैं । उपमान प्रमाण सादृश्यप्रत्यभिज्ञान ६ परोक्षभेद में अन्तर्गत हैं और अध्यापति अनुमान से भिन्न नहीं अभाव प्रमाण यथायोग्य प्रत्यक्ष आदि में समाविष्ट हैं । अतएव ६ और परोक्ष—यह दो भेद ही मानना उचित है ।

प्रत्यक्ष का अर्थ

स्पष्टं प्रत्यक्षम् ॥ २ ॥ /—

अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ—स्पष्ट (निर्मल) ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । २

अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों की अपेक्षा पदार्थ वा वस्तु, तत्त्व आदि विशेष मान्त्र होना स्पष्टत्व कहलाता है । ३

विवेचन—प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट होता है और परोक्ष अस्पष्ट होता यही दोनों प्रमाणों में मुख्य भेद है । प्रत्यक्ष प्रमाण में रहने वाली ता क्या है, यह उदाहरण से समझना चाहिए । मान लीजिये—बालक को उसके पिता ने अग्नि का ज्ञान शब्द द्वारा करा दिया । क ने शब्द (आगम) से अग्नि ज्ञान ली । इसके पश्चात् फिर धूम आकर अग्नि का ज्ञान करा दिया । बालक ने अनुमान से अग्नि ली । तदनन्तर बालक का पिता जलना हुआ अंगार उठ लाया : बालक के सामने रख कर कहा—देखो, यह अग्नि है । यह उससे अग्नि का जानना कहलाया ।

यहाँ पहले दो ज्ञानों की अपेक्षा, अन्तिम ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष । अग्नि का विशेष वस्तु, स्पर्श आदि का ओ माफ-मुपर ज्ञान

विषय अर्थान् घट आदि पदार्थ और विषयी अर्थान् नेत्र आदि अत्र योग्य देश में मिलते हैं तब मध्यप्रथम दर्शनोपयोग उत्पन्न होता है । दर्शन महामामान्य अथवा भ्रमा को ही जानता है । हमने पञ्चान् उपयोग कुछ आगे की ओर बढ़ता है और यह मनुष्यत्व आदि अवान्तरमामान्य युक्त वस्तु को जान लेता है । यह अवान्तर सामान्य युक्त वस्तु अर्थान् मनुष्यत्व आदि का ज्ञान ही अवग्रह कहलाना है ।

ज्ञान की यह धारा उत्तरोत्तर विरोध की ओर मुक्तनी जाती है, जैसा कि अगले सूत्रों में ज्ञान होगा ।

इरा का अर्थ

अवग्रहीतार्थविरोधात्तत्त्वमीदा ॥ ८ ॥

अर्थ—अवग्रह में जाने दूरे पदार्थ में विरोध जानने की इच्छा ईरा है ।

टिप्पण—‘यह मनुष्य है’ जैसा अवग्रह ज्ञान में ज्ञान पाया था । इसमें भी अधिक ‘यह दक्षिणी है या पूर्वी’ इस प्रकार विरोध को जानने की इच्छा होना ईरा ज्ञान कहलाना है । ईरा ज्ञान ‘यह दक्षिणी होना चाहिये’ यहाँ तक पहुँच जाता है ।

अवग्रह का अर्थ

इतिविरोधनिर्माणोऽवग्रहः ॥ ९ ॥

अर्थ—ईरा द्वारा जाने दूरे पदार्थ में विरोध का निर्माण ईरा अवग्रह है ।

टिप्पण—‘यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिये’ इसका ज्ञान ईरा

झाया हो चुका था, उसमें विरोध का निश्चय हो जाता अर्थात् है।
जैसे—'यह मनुष्य दक्षिणी ही है।'

श्रीसिद्धिया जैन ग्रंथ

आत्मज्ञान का स्वरूप

पृष्ठ १०२।

स एव ददतमायस्थायसो धारणा ॥ १० ॥

अर्थ—अर्थात् ज्ञान जब अत्यन्त दृढ़ हो जाता है तब वही
अर्थात्, धारणा कहलाता है। १०-

विशेषण—धारणा का अर्थ संस्कार है। हृदय-मंडल पर यह
ज्ञान इस प्रकार अभिन्न हो जाता है कि कालान्तर में भी यह जागृत
हो सकता है। इसी ज्ञान में स्मरण होता है।

इहा धीर संशय का अन्त

मंशयपूर्वकत्वादीहायाः मंशयाद् भेदः ॥ ११ ॥

अर्थ—इहा ज्ञान मंशयपूर्वक होता है अतः यह मंशय में
भिन्न है। ११-

विशेषण—इहा ज्ञान में विरोध का निश्चय नहीं होता और
मंशय भी अनिश्चयान्तरक है, जैसी अवस्था में दोनों में क्या भेद है ?
इस प्रश्न का समाधान यहाँ यह किया गया है कि संशय पहले होता
है और इहा बाद में उत्पन्न होती है अतएव दोनों भिन्न हैं।
इसके अतिरिक्त—

मंशय में दोनों पलकें बराबर होते हैं—दक्षिणी और पश्चिमी
की दोनों कोटियाँ मुख्य बल वाली होती हैं; इहा में एक पलक़ भारी

अर्थ—असमस्त रूप से भी उत्पन्न होने के कारण भिन्न २ समाध बाने मान्य होते हैं, यन्त्र की नवीन २ पर्याय को प्रकाशित करने हैं और क्रम से उत्पन्न होते हैं, अतः अवमद आदि भिन्न २ हैं । ५ ?

विवेचन—अवमद आदि का भेद मिट्ट करने के लिये यहाँ ११ देनु बताया गया है—

(१) पहला देनु—कभी भिन्न दर्शन ही होता है, कभी दर्शन और अवमद—दो ही उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार कभी तीन, कभी चार ज्ञान भी उत्पन्न होते हैं । इसमें प्रतीत होता है कि दर्शन, अवमद आदि भिन्न-भिन्न हैं । यदि यह अभिन्न होने तो एक साथ तीनों ज्ञान उत्पन्न होते अथवा एक भी न होता ।

(२) दूसरा देनु—पदार्थ की नई-नई पर्याय को प्रकाशित करने के कारण भी दर्शन आदि भिन्न भिन्न मिट्ट होते हैं । मत्पर्य यह कि सर्वप्रथम दर्शन पदार्थ में रहने वाले महा सामान्य को जानना, फिर अवमद अथान्तर सामान्य को जानना है, ईहा विरोध की ओर मुक्तता है, अथवा विरोध का निश्चय कर देना है और धारणा में यह निश्चय अत्यन्त हृद बन जाता है । इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान नवीन-धीन धर्म को जानता है और इसमें उनमें भेद मिट्ट होता है ।

(३) तीसरा देनु—पहले दर्शन, फिर अवमद आदि इस प्रकार क्रम से ही यह ज्ञान उत्पन्न होते हैं, अतः भिन्न-भिन्न हैं ।

दर्शन-अवमद आदि का क्रम

क्रमोऽप्यमीषामपमेव तथैव संबंदनात्; एवंक्रमावि-
ननिजकर्मक्षयोपशमजन्यत्वाच्च ॥१४॥

अर्थ—वही क्रम मातृम नहीं पड़ना क्योंकि यह मय ज्ञान
म ही उत्पन्न हो जाते हैं, कमल के मौ पत्तों को छेदने की तरह । ॥

विवेचन—ओ वस्तु अन्यन्त परिचित होनी है उसमें पहले
न हुआ, फिर अवग्रह हुआ, इत्यादि क्रम का अनुभव नहीं होता ।
रहा कारण यह नहीं है कि वहाँ दूरान आदि के बिना ही मीमा
चाय या धारणा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । वहाँ पर भी पूर्वोक्त क्रम
ही ज्ञानों को उत्पन्न होती है किन्तु प्रगाढ़ परिचय के कारण वह
ब बहुत शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं । इसी कारण क्रम का अनुभव
ही होता । एक दूसरे के ऊपर कमल के मौ पत्ते रखकर उनमें
कीला भाला घुमेका जाय तो वे मय पत्ते क्रम में ही छिड़ेंगे पर यह
नहीं पड़ पाता कि भाला कब पड़ते पत्ते में घुमा, कब उसमें
हर निकला, कब दूसरे पत्ते में घुमा आदि । इसका कारण शीघ्रता
ही है । जब भाले का वेग इतना तीव्र हो सकता है तो ज्ञान जैसे
दुमर पदार्थ का वेग उसमें भी अधिक तीव्र क्यों न होगा ?

पारमार्थिक प्रत्यक्ष

पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम् ॥१॥

अर्थ—ओ ज्ञान आत्मा में ही उत्पन्न होता है उसे पारमार्थिक
प्रत्यक्ष कहते हैं । ॥

विवेचन—पारमार्थिक प्रत्यक्ष अर्थात् वास्तविक प्रत्यक्ष । यह
प्रत्यक्ष सांख्यबुद्धारिक प्रत्यक्ष की भाँति इन्द्रियों और मन से उत्पन्न
ही होता किन्तु आत्म-स्वरूप में उत्पन्न होता है । इसी कारण इसे
स्व प्रत्यक्ष भी कहते हैं । सांख्यबुद्धारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य और
नोजन्य होने के कारण बस्तुतः पथेष्ट है किन्तु लोक में वह प्रत्यक्ष

विशेष—यहाँ अवधिज्ञान का स्वरूप बताते हुए उसके उत्पादक कारण और इनके विषय का उल्लेख किया गया है ।

अवधिज्ञान के उत्पादक दो कारण हैं—अन्तरंग कारण और विरंग कारण । अवधिज्ञानावरण कर्म का स्योपशम अन्तरंग कारण है और देवभय और नरकभय या तपश्चरण आदि गुण विरंग कारण हैं । देवभय या नरकभय से जो अवधिज्ञान होता है उसे तपश्चरण अवधिज्ञान कहते हैं और तपश्चरण आदि से होने वाला अवधिज्ञान गुणप्रत्यय कहलाता है । दोनों प्रकार के इन ज्ञानों में अन्तरंग कारण समान रूप में होता है । देवों और नारकी जीवों को तपश्चरण अवधिज्ञान होता है और मनुष्यों तथा नियन्त्रियों को गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है । मगर सब देवों और नारकों के समान सब मनुष्यों और नियन्त्रियों को यह ज्ञान नहीं होता ।

अवधिज्ञान भिन्न रूपी पदार्थों को जानता है । रूप, रस, गन्ध और रसों वाले पदार्थ को रूपी कहते हैं । केवल पुद्गल द्रव्य ही रूपी है ।

मनःपर्याय ज्ञान का स्वरूप

मयमविशुद्धिनिबन्धनाद्, विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातं,
मनोद्रव्यपर्यायात्मकं मनःपर्यायज्ञानम् ॥२२॥

अर्थ—जो ज्ञान संयम की विशिष्ट शुद्धि में उत्पन्न होता है, तथा मनःपर्याय ज्ञानावरण कर्म के स्योपशम से उत्पन्न होता है और मन सम्बन्धी ज्ञान को जान लेता है उसे मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं । २२

विशेष—संयम की विशुद्धता मनःपर्यायज्ञान का विरंग

अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं

तद्वानर्हमिदोपस्थात् ॥२४॥ ।

निर्दोषोऽर्हो प्रमाणाविरोधिराक्त्वात् ॥२५॥ ।

तदिष्टस्य प्रमाणेनावाप्यमानत्वात्, तदाचस्तेना-
विरोधमिद्विः ॥२६॥

अर्थ—अर्हन्त भगवान् ही केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) हैं क्योंकि
निर्दोष हैं ॥ २४ ॥

अर्हन्त भगवान् निर्दोष हैं, क्योंकि उनके वचन प्रमाण से
बेरुद्ध नहीं हैं ॥ २५ ॥

अर्हन्त भगवान् के वचन प्रमाण में विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि
उनका (त्यागाद्) मन प्रमाण में स्वरिद्ध नहीं होता । ॥ २६ ॥

विवेचन—ऊपर के सूत्र में केवलज्ञान का विधान करके यहाँ
अर्हन्त भगवान् को ही केवलज्ञानी मिट्ट दिया गया है । अर्हन्त
भगवान् को केवली मिट्ट करने के लिए निर्दोषत्व हेतु दिया है ।
निर्दोषत्व हेतु को मिट्ट करने के लिए 'प्रमाणाविरोधि वचन' हेतु दिया
है और इस हेतु को मिट्ट करने के लिए 'अर्हन्त भगवान् के मन को
अवाप्तिता' हेतु दिया गया है । अनुगान का प्रयोग इस प्रकार करना
चाहिये:—

(१) अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं, जो सर्वज्ञ
नहीं होता वह निर्दोष नहीं होता, जैसे हम सब लोग । (व्यतिरेकी
हेतु)

(४) असत्यप्रतिपक्षता—हेतु का विरोधी समान वस्तु वाला प्रमाण हेतु न हो।

(५) अबाधितविषयता—हेतु का साध्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित न हो।

वास्तव में बौद्धों और नैयायिकों का हेतु का यह लक्षण ठीक नहीं है। इसके दो कारण हैं—प्रथम, यह कि इन सब के मौजूद होने पर भी कोई-कोई हेतु सही नहीं होता, दूसरे, कभी-कभी इनके न होने पर भी हेतु सही होता है। इस प्रकार हेतु के इन दोनों लक्षणों में अध्यामि और अतिव्यामि दोनों दोष विद्यमान हैं।

साध्य का स्वरूप

प्रवर्तितमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ॥१४॥

तं वित्तविपरीतानप्यवमितवन्तूनां साध्यताप्रतिपक्षपर्यमप्रवर्तित-
वचनम् ॥१५॥

रूपसादिविरुद्धस्य साध्यत्वं सा प्रमज्ज्यतामित्यनिराकृत-
प्रकरणम् ॥१६॥

अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपक्षपेक्षमभीप्सितपदोपादानम् ॥१७॥

अर्थ—जो प्रतिबारी को स्वीकृत न हो, जो इ-एक और किसी प्रमाण से बाधित न हो और जो बारी को मान्य हो, वह साध्य होता है। १ २

त्रिममें रखा हो, त्रिमे उलटा मान लिया हो अथवा त्रिममें

अनध्यवसाय हो रही माध्य हो सकता है, यह बताने के लिए को 'अप्रतीत' कहा है । '५

जो प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण में बाधित हो, वह माध्य हो जाय, यह सूचित करने के लिए माध्य को 'अनिग्राह्य' कहा है ।

जो बारी को मिट नहीं है वह माध्य नहीं ।
बताने के लिए माध्य को 'अभीष्टित' कहा है ।

विवेचन—जिसे मिट करना हो वह माध्य कहलाता है । निर्दोष माध्य में तीन बातें होनी आवश्यक हैं—(१) प्रथम यह कि प्रमाणों को वह पहले में ही मिट न हो; क्योंकि मिट बात मिट करना युक्त है । (२) दूसरी यह कि माध्य में किसी प्रमाण में बाधा न हो, 'अग्नि टण्डी है' यहाँ अग्नि का टण्डुलन प्रत्यक्ष में बाधित है अतः यह माध्य नहीं हो सकता । (३) तीसरी यह कि जिस बात को बारी मिट करना चाहे वह उसे स्वयं माध्य हो; 'आत्मा नहीं है' यहाँ आत्मा का अभाव जिसे माध्य नहीं है वह आत्मा का अभाव मिट करेगा तो माध्य दूजित कहलायेगा ।

माध्य साधनी नियम

व्याप्तिप्रदण्यमप्राप्यता माध्यं धर्म एव, अन्यथा नदत्तु
कथनेः ॥१८॥

न हि यत्र यत्र भूयस्य तत्र विवक्षांतिव्य चरिरीधायता
नृत्तिर्गम्य ॥१९॥

माध्यार्थनिरूपितव्यवसायमप्राप्यता तु यथावत्तर्कव्यवसायः
व्यवसायः धर्मः ॥२०॥

धर्म—व्याप्ति प्रदण करने समय धर्म ही माध्य होता है—
भी नहीं; धर्मों को माध्य बनाया जाय तो व्याप्ति नहीं बन सकती । १

जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि की भाँति पर्वत
धर्मों) को व्याप्ति नहीं है । २

अनुमान प्रयोग करने समय धर्म (अग्नि) से युक्त धर्मों
पर्वत) माध्य होता है । धर्मों का दूसरा नाम पक्ष है और वह
मिथ होता है । ३

विवेचन—यहाँ कब क्या माध्य होना चाहिए, यह बताया
या है । अब व्याप्ति का प्रयोग करना हो तो 'जहाँ जहाँ धूम होता है
हाँ-वहाँ अग्नि होती है' इस प्रकार अग्नि धर्म को ही माध्य बनाना
हिए । यदि धर्म को ही माध्य न बनाकर धर्मों को माध्य बनाया
ज तो व्याप्ति यो बनेगी—जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ वहाँ पर्वत में अग्नि
।' पर ऐसी व्याप्ति ठीक नहीं है । अतएव व्याप्ति के समय धर्मों
पक्ष) को छोड़ कर धर्म को ही माध्य बनाना चाहिए ।

इसमें विपरीत, अनुमान का प्रयोग करने समय अग्नि धर्म
युक्त धर्मों (पर्वत) को ही माध्य बनाना चाहिए । उस समय
सिद्ध है, क्योंकि धूम है' इतना कहना पर्याप्त नहीं है । क्योंकि अग्नि
। अतएव सिद्ध करना इस अनुमान का प्रयोजन नहीं है किन्तु
वत में अग्नि सिद्ध करना इष्ट है । अतएव अनुमान-प्रयोग के समय
में से युक्त पक्ष माध्य बन जाना है । तात्पर्य यह है कि पर्वत प्रसिद्ध
अग्नि भी सिद्ध है, किन्तु अतिमान पर्वत सिद्ध नहीं है, अतः वही
पक्ष होना चाहिए ।

अर्थ—एक और हेतु का बचन परार्थानुमान है। उसे उपचार अनुमान कहते हैं।

विशेष—स्वार्थानुमान को शब्दों द्वारा कहना परार्थानुमान। मान लीजिये देवदत्त को धूम देखने में अग्नि का अनुमान। यह अपने साथी जिनदत्त से कहता है—‘देखो, पर्वत में अग्नि क्योंकि धूम है।’ जो देवदत्त का यह शब्द-प्रयोग परार्थानुमान है, कि वह परार्थ है अर्थात् दूसरे को ज्ञान कराने के लिए बोला है।

प्रत्येक प्रमाण ज्ञान-स्वरूप होता है पर परार्थानुमान शब्द-रूप है। शब्द जड़ हैं अतः परार्थानुमान भी जड़रूप होने में तत्त्व नहीं हो सकता। किन्तु इन शब्दों को सुनकर जिनदत्त को परार्थानुमान उत्पन्न होता है। अतएव परार्थानुमान स्वार्थानुमान का एक है। कारण को उपचार में कार्य मान कर परार्थानुमान को अनुमान ज्ञान लिया है।

शब्द-प्रयोग की आवश्यकता

मातृस्य प्रतिनियतधर्मिण्यन्विताप्रसिद्धये हेतोरप-
सारवचनरन् पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥२४॥

त्रिविधं माधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः कः खलु
पक्षप्रयोगमाह्वीकुरुते ? ॥२५॥

अर्थ—मातृ का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये, उपनय की भाँति पक्ष का प्रयोग भी आवश्यक करना चाहिए।

अर्थ—प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए परार्थ का उल्लेख करने वाले व परार्थ प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि उन वस्तुओं से हमारे को प्रत्यक्ष है। २६।

जैसे—देखो, सामने, चमकती हुई किरणों वाली मणियों के तों से ऊँचे हुए आभूषणों को धारण करने वाली जिन भगवान् शनिमा है।

विशेष—जैसे अनुमान द्वारा जानी हुई बात शब्दों द्वारा व परार्थानुमान है उसी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई बात को तों से कहना परार्थ प्रत्यक्ष है। परार्थानुमान जैसे अनुमान वा गु है उसी प्रकार परार्थ प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष का कारण है। यह परार्थ व भी शब्दान्तर होने के कारण उपचार से प्रमाण है।

अनुमान के अक्षय

पक्षहेतुवचनभयपरद्रव्यमेव परप्रतिपत्तेरंगं, न दृष्टा-
देवचनम् ॥२८॥

अर्थ—पक्ष का प्रयोग और हेतु का प्रयोग, यह दो अवयव मगों को समझाने के कारण है, दृष्टान्त आदि का प्रयोग नहीं।

विशेष—परार्थानुमान के अवयवों के सम्बन्ध में अनेक हैं। सांग्य भोग पक्ष, हेतु और दृष्टान्त यह तीन अवयव मानने सांगिक उपनय के साथ बार अवयव मानते हैं, और सांग भोग व को इनमें सम्मिलित करके पाँच अवयव मानते हैं।

इन सब मतों का निराकरण करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही तों का समर्थन किया गया है, क्योंकि हमारे को समझाने के

विशेष—यहाँ हेतु के प्रयोग की विधि बनाई गई है।
 यथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति रूप हेतुओं में अर्थका भेद नहीं है,
 ईश्वर एक में विधि रूप में प्रयोग है और दूसरे में निषेध रूप में।
 दोनों का आशय एक है अतएव विभी भी एक का प्रयोग करना
 पर्याप्त है, दोनों को एक साथ बोलना अनुसंगी है।

दृष्टान्त अनुमान का व्यवहार नहीं है

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपक्षये प्रभवति, तस्यां पक्षहेतु-
 वचनपरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३ ॥

न पक्षेतोऽन्यथानुपपत्तिनिर्णीतये, यथोक्ततर्कप्रमाणा-
 देव सदुपपत्तेः ॥ ३४ ॥

निरर्तकविशेषस्त्वभावे च दृष्टान्ते साकान्येन व्या-
 प्तेरयोगतो विप्रतिपक्षा तदन्तरापेक्षायामनरस्थितेर्दुर्निवारः
 समयवारः ॥ ३५ ॥

नाप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपक्षप्रतिपन्धम्य व्युत्पन्नमतेः
 पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तन्प्रमिद्वेः ॥ ३६ ॥

अर्थ—दृष्टान्त दूसरे को समझाने के लिए नहीं है, क्योंकि दूसरे
 को समझाने में पक्ष और हेतु के प्रयोग का ही व्यापार देखा जाता है ॥ ३३

दृष्टान्त, हेतु के अविनाभाव का निर्णय करने के लिये भी
 नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त तर्क प्रमाण में अविनाभाव का निर्णय होता है ॥ ३४

दृष्टान्त, निश्चित एक विशेष स्वभाव वाला होता है

(एक महान्तम तक ही सीमित रहता है) इसमें क्यानि पूर्ण का नहीं पट सकती अनन्त दृष्टान्त में क्यानि सम्बन्धी विवाद होने पर दूसरा दृष्टान्त दूटना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था अनिवार्य होगी ॥

दृष्टान्त, अविनाभाव के स्मरण के लिए भी नहीं हो सके क्योंकि जिसमें अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञान निश्चय है और जो प्रमाण है, उसके आगे पक्ष और हेतु का प्रयोग करने में ही उसे आवरण का स्मरण हो जाता है ॥

विवेचन—दृष्टान्त को अनुमान का अवयव मानने के प्रयोजन हो सकते हैं । (१) दूसरे को माध्य का ज्ञान कराना । (२) अविनाभाव का निर्णय कराना और (३) अविनाभाव का स्मरण कराना । किन्तु इनमें से किसी भी प्रयोजन के लिए दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पक्ष और हेतु का कथन करने में मात्र का ज्ञान हो जाता है, तर्क प्रमाण में अविनाभाव का निर्णय हो जाता है और पक्षहेतु के कथन में ही अविनाभाव का स्मरण हो जाता है ।

इसके अनिरिक्त जो दृष्टान्त में अविनाभाव का निर्णय होता मानते हैं, उन्हें अनवस्था दोष का सामना करना पड़ेगा । पक्ष में अविनाभाव का निर्णय करने के लिए दृष्टान्त चाहिए तो दृष्टान्त में अविनाभाव का निर्णय करने के लिए एक तथा दृष्टान्त चाहिए, उसके भी अविनाभाव का निर्णय किसी नये दृष्टान्त से होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा । क्योंकि दृष्टान्त एक विरोध स्वभाव वाला होता है अर्थात् वह एक ही स्थान तक सीमित होता है जब कि क्यानि सामान्य रूप है अर्थात् त्रिकाल और त्रिलोक सम्बन्धी होती है । ऐसे दृष्टान्त में पूर्ण रूपेण क्यानि नहीं पट सकती ।

प्रकाशान्तर से सम्बन्ध

अन्तर्ध्याप्तिः हेतोः माध्यप्रत्यक्षेण शक्तावशक्ता च
देव्याप्तिरुद्भावने व्यर्थम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—अन्तर्ध्याप्ति द्वारा हेतु से माध्य का ज्ञान हो जाने पर
या न होने पर भी बहिर्ध्याप्ति का कथन करना व्यर्थ है ।

विवेचन—अन्तर्ध्याप्ति का और बहिर्ध्याप्ति का स्वरूप आगे
जाना जायगा । इन मूल का आशय यह है कि अन्तर्ध्याप्ति के द्वारा
यदि माध्य का ज्ञान करा देना है तब बहिर्ध्याप्ति का कथन व्यर्थ
और अन्तर्ध्याप्ति के द्वारा हेतु यदि माध्य का ज्ञान नहीं कराया
भी बहिर्ध्याप्ति का कथन व्यर्थ है । आशय यह है कि बहिर्ध्याप्ति
के द्वारा में व्यर्थ है ।

अन्तर्ध्याप्ति और बहिर्ध्याप्ति का स्वरूप

परीकृत एव विषये माधनस्य माध्येन व्याप्तिरन्तर्ध्याप्तिः;
यत्र तु बहिर्ध्याप्तिः ॥ ३८ ॥

पथाऽनेकान्तात्मके यन्तु सत्त्वस्य तर्पणापपत्तेरिति;
प्रधानं देशो भूमवत्त्वात्, य एवं न एवं, यथा पाकस्थान-
म् ॥ ३९ ॥

अर्थ—यस में ही माधन की माध्य के साथ व्याप्ति होना
ध्याप्ति है और यस के बाहर व्याप्ति होना बहिर्ध्याप्ति ॥

वैते—यन्तु अनेकान्त रूप है, क्योंकि यह सत्त्व है, और, यह

हेतु का समर्पन

समर्पणमेव परं परप्रतिपक्षद्वमास्तां, तदन्तरेण
 एतन्तादिप्रयोगेऽपि तदसम्भवात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—समर्पण को ही परप्रतिपक्ष का अङ्ग मानना चाहिये,
 क्योंकि समर्पण किए बिना; दृष्टान्त आदि का प्रयोग करने पर भी
 तथ्य का ज्ञान नहीं हो सकता ।

विवेचन—हेतु के दोषों का अभाव दिखाकर उन्हें निर्दोष सिद्ध
 करना समर्पण है । समर्पण करने से ही हेतु समीचीन सिद्ध होता है ।
 समर्पण को चाहे अनुमान का अलग अङ्ग माना जाय चाहे हेतु में ही
 से अन्तर्गत किया जाय, पर है वह आवश्यक । समर्पण के बिना
 दृष्टान्त का प्रयोग करना निरर्थक है ।

सिद्ध्यानुगोच से अनुमान के अन्वय

मन्दमूर्तीन्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि
 पौन्यानि ॥ ४२ ॥

अर्थ—मन्दबुद्धि वाले मित्यों को समझाने के लिए दृष्टान्त,
 उपनय और निगमन का भी प्रयोग करना चाहिये ।

विवेचन—वराधानुमान दूसरे को मातृ का ज्ञान कराने के
 लिये पौला जाता है । अतएव जितना बोलने से दूसरा समझ जाय,
 उतना बोलना ही उचित है; उसमें किसी अनिवार्य बन्धन की आव-
 श्यता नहीं है । हाँ, बार-बार के समय बारी और प्रतिबारी दोनों
 आवश्यक होते हैं अतः उन्हें पक्ष और हेतु वह दो ही अवयव प्याप्त हैं ।

हस्त्य का विवरण

प्रतिबन्धप्रतिवत्तेगम्पदं हृष्टान्तः ॥ ४३ ॥

म द्वेधा माधर्म्येनो वैधर्म्येनथ ॥४४॥

यत्र माधनधर्ममनायाम् माध्यधर्ममना प्रकार
माधर्म्यहृष्टान्तः ॥४५॥

यथा-यत्र यत्रधूमस्तत्र तत्र वदिर्यथा महानम
यत्र तु माध्याभाये माधनम्यावरयमभावः ।
म वैधर्म्यहृष्टान्तः ॥४७॥

यथा-अग्न्यभाये न भरण्येन धूमो यथा जनाशये

अर्थ—अविनाशक बनाने के स्थान को हृष्टान्त कहते

हृष्टान्त को प्रकार का है—(१) माधर्म्य हृष्टान्त व
वैधर्म्य हृष्टान्त ॥

जहाँ माधन के होने पर माध्य का होने बनाया अ
माधर्म्य हृष्टान्त कहलाता है ।

त्रैय—जहाँ जहाँ धूम होने है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, वी
अग्नि है यत्र ।

जहाँ माधन के अभाव में माधन का अभाव का अभाव निमित्त
अभाव है वह वैधर्म्य हृष्टान्त है ।

अर्थ—अन्यथानुपपत्तिरूप पूर्वोक्त हेतु दो प्रकार का है—
(१) उपलब्धिरूप और (२) अनुपलब्धिरूप ।

उपलब्धिरूप हेतु में विधि और निषेध दोनों मिट्ट होते हैं
और अनुपलब्धिरूप हेतु में भी दोनों मिट्ट होते हैं ।

विशेषण—विधि-सदभावरूप हेतु को उपलब्धि हेतु कहते
और निषेध अर्थात् असदभावरूप हेतु अनुपलब्धि कहलाता है ।
यह लोगों की यह मान्यता है कि उपलब्धि हेतु विधिमात्रक और
अनुपलब्धिहेतु निषेधमात्रक ही होता है । इस मान्यता का विरोध
करते हुए यहाँ दोनों प्रकार के हेतुओं को दोनों का माधक बताया
या है । प्रत्येक हेतु जैसे अपने सम्बन्धी का सदभाव मिट्ट करना
उसी प्रकार अपने विरोधी का अभाव भी मिट्ट कर सकता है ।

विधि-निषेध की व्याख्या

विधिः सदंशः ॥५६॥ १

प्रतिषेधोऽप्यदंशः ॥५७॥ १

अर्थ—सम् अंश को विधि कहते हैं ।

अभन् अंश को प्रतिषेध कहते हैं ।

विशेषण—प्रत्येक वाक्य में सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म पाये
जते हैं । अतएव सत्त्व वाक्य का एक अंश (धर्म) है और असत्त्व
एक अंश है । सत्त्व और असत्त्व सर्वथा वृथक् पदार्थ नहीं हैं ।
सीमित मूर्तों में 'अंश' शब्द का प्रयोग किया गया है । वैरोचिक
में सत्त्व (सामान्य) और अभाव को अलग पदार्थ मानते हैं,
और उनकी इस मान्यता का परोल्लेख में विरोध किया गया है ।

प्रतिषेध के भेद

स चतुर्था-प्रागभावः, प्रथ्वमाभावः,
अत्यन्ताभावश्च ॥५८॥

अर्थ—प्रतिषेध (अभाव) चार प्रकार का है—
प्रथ्वमाभाव, इतरेनगभाव और अत्यन्ताभाव ।

प्रागभाव का स्वरूप

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः ॥५९॥
यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्डः ॥६०॥
अर्थ—जिस पदार्थ के नाश होने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो
वह पदार्थ उस कार्य का प्रागभाव है । — ५९ ॥

जैसे मिट्टी के पिण्ड का नाश होने पर ही उत्पन्न होने वाला
घट का प्रागभाव मिट्टी का पिण्ड है ।

विवेचन—किन्हीं भी कार्य की उत्पत्ति होने में पहले जो
जो अभाव होता है वह प्रागभाव कहलाता है । यहाँ
पिण्ड को घट का प्रागभाव बतलाया है । इसमें यह स्पष्ट हो
कि, अभाव एकान्त असन्नारूप (नृच्छाभावस्वरूप) नहीं है,
पदार्थान्तर रूप है । आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिये ।

प्रथ्वमाभाव का स्वरूप

यदुत्पत्तौ कार्यम्यावरणं विपत्तिः सोऽस्य प्रथ्वमाभावः ॥६१॥
यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ निषमत्तो
कलशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—अिम पदार्थ के उत्पन्न होने पर कार्य का अवसर ही हो जाता है यह पदार्थ उस कार्य का प्रथमाभाव है ॥

त्रैमे—दुक्खों का समूह उत्पन्न होने पर निश्चित रूप से नष्ट नि जाने पट का प्रथमाभाव दुक्खों का समूह है ॥

इतरेतराभाव का स्वरूप

स्वरूपान्तगन् स्वरूपव्यावृत्तिस्तिरेतराभावः ॥ ६३ ॥

नया म्मम्भस्वभावान् कुम्भस्वभावव्यावृत्तिः ॥ ६४ ॥

अर्थ—एक पर्याय का दूसरी पर्याय में न पाया जाना इतरे-
भाव है । ॥ ६३, ६४

त्रैमे—मम्म का कुम्भ में न पाया जाना ।

विवेचन—मम्म और कुम्भ—दोनों पदार्थ एक साथ सहभाव हैं, किन्तु मम्म कुम्भ नहीं है और कुम्भ मम्म ही है । इस-
तर दोनों में परस्पर का अभाव है । यही अभाव इतरेतराभाव,
न्याभाव या परस्परभाव कहलाता है ।

अव्यक्ताभाव का स्वरूप

कालत्रयाऽवेष्टिणी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ता-
वः ॥ ६५ ॥

यथा चेतनाचेतनयोः ॥ ६६ ॥ ।।

अर्थ—त्रिकाल सम्बन्धी तादात्म्य के अभाव को अव्यक्ता-
व कहते हैं ।

विवेचन—एक द्रव्य त्रिकान में भी दूसरा द्रव्य नहीं है
जैसे चेतन कभी अचेतन न हुआ, न है और न होगा ।
प्रत्येक द्रव्य में, दूसरे द्रव्य का प्रैकालिक अभाव वा
वही अत्यन्ताभाव है । एक ही द्रव्य की
अभाव इतरेतराभाव कहलाता है और अनेक द्रव्यों का एक
अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है । प्रागभाव अनादि
प्रागभाव मादि अनन्त है, इतरेतराभाव मादि मत्त ।
अत्यन्ताभाव अनादि अनन्त है ।

उपपत्ति हेतु के भेद

उपलब्धेऽपि दैविष्यमविरुद्धोपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिः ।

अर्थ—उपलब्धि हेतु के भी दो भेद हैं—(१) अपिद
विरुद्ध और (२) विरुद्धोपलब्धि । —

विवेचन—गात्र में अविरुद्ध हेतु की उपलब्धि । अर्थात्
अधि । और मात्र में विरुद्ध हेतु की उपलब्धि विरुद्धोपलब्धि । है ।

विशिष्टावक अविरुद्धोपलब्धि के भेद

नपारिविद्धोपलब्धिर्भिन्निगिद्धो बोधः ॥६८॥

अर्थ—विशिष्टावक मात्र मात्र को भिन्न करने वाली अपिद
अधि । बोध प्रकाश की है । —

भेदों का निमित्त

मात्रनार्तिद्वयानां व्याख्यादायं द्वाभ्यामपूरं वशात् प्रागप्य
मात्रनार्तिः ॥ ६९ ॥

अर्थ—(१) साध्याविरुद्ध उपलब्धि, (२) साध्याविरुद्ध
 उपलब्धि, (३) साध्याविरुद्ध कारणोपलब्धि (४) साध्याविरुद्ध
 उपलब्धि (५) साध्याविरुद्ध उत्तरावगोपलब्धि (६) साध्याविरुद्ध
 उपलब्धि; विधिमाधक साध्याविरुद्ध-उपलब्धि के यह द्वादश भेद

कारण हेतु का सम्बन्ध

तमस्विन्यामास्वाद्यमानादाम्रादिकतरस्तादेकतामप्र्य-
 मेन्या रूपाद्यनुमितिमभिमन्यमानैरभिमतमेव किमपि कारणं
 विधा; यत्र शक्तेरप्रतिस्मृतलनमपरकारणमाकन्यञ्च ॥७०॥

अर्थ—गति में घूमे जाने वाले आम आदि कल के रस में,
 एक उत्पन्नक सामग्री का अनुमान करके, फिर उससे रूप
 गति का अनुमान मानने वालों ने (बौद्धों ने) कोई कारण हेतु रूप में
 निकार दिया ही है, जहाँ हेतु की शक्ति का प्रतिपादन न होगा
 । और दूसरे सहकारी कारणों की पूर्णता हो । —

टिप्पण—बौद्ध, उपलब्धि के स्वभाव और कार्य—यह दो
 ही भेद मानते हैं, कारण आदि को उन्होंने हेतु नहीं माना । वे कहते
 हैं—कार्य का कारण के साथ अविनाभाव है, कारण का कार्य के
 साथ नहीं; क्योंकि कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता, पर कारण
 तो कार्य के बिना भी होता है । अतएव कारण को हेतु नहीं मानना
 चाहिए । बौद्धों के मत का यहाँ खरब करने के लिए दो बातें बड़ी
 गई हैं:—

(१) प्रत्येक कारण हेतु नहीं होता किन्तु जिस कारण का
 कार्योत्पादक सामर्थ्य मणि-मन्त्र आदि प्रतिबन्धकों द्वारा रुका हुआ

स्वव्यापारापेक्षिणी हि कार्यं प्रति पदार्थस्य काल-
त्वव्यवस्था, कुलालस्यैव कलशं प्रति ॥ ७३ ॥

न च व्यवहितयोस्तयोर्व्यापारपरिकल्पनं न्याय्यं
प्रसक्तेरिति ॥ ७४ ॥

परम्पराव्यवहितानां परेषामपि तत्कल्पनस्य नि-
यितुमशक्यत्वात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—अनीन ज्ञान-अवस्था का ज्ञान, प्रबोध (मोक्ष ज्ञान के पश्चात् होने वाले ज्ञान) का कारण नहीं है और भावी ज्ञान अविष्ट (अज्ञानों नाश न होना आदि) का कारण नहीं है, क्योंकि वे समय में व्यवहित हैं इसलिए प्रबोध और अविष्ट अवस्था का वे व्यापार नहीं करते ॥ —

जो कार्य की कल्पना में व्यव व्यापार करता है वही कारण कहलाता है, जैसे कुम्हार घट में कारण है।

समय का व्यवधान होने पर भी अनीन ज्ञान-अवस्था का ज्ञान और ज्ञान, प्रबोध और अविष्ट की कल्पना में व्यापार करते हैं, वे ही कहलाते व्यावसायिक नहीं हैं, अन्यथा सब छोटासा हो जायगा।

(फिर भी) परम्परा में व्यवहित अवस्थाय पदार्थों के व्यापार की कल्पना करना भी अनिवार्य हो जायगा ॥

विवेचन—यहमें बताया जा चुका है कि जहाँ समय का व्यवधान होता है, वहाँ कार्य-कारण का भेद नहीं होता। इस विधान का वही समर्थन दिया गया है।

शब्द—आगने समय हमें देवदत्त का ज्ञान हुआ । रात में मैं सो गया । दूसरे दिन हमें देवदत्त का ज्ञान रहता है । ऐसी अवस्था में सोने में पहले का ज्ञान सोने के बाद के ज्ञान का कारण है । पहले अनिष्टि ब्रह्म मरीने पश्चात् होने बाधा मरण अवस्थानी का न होयता और अनिष्टि का कारण होता है । वही दोनों उगह समय का व्यवधान होने पर भी कार्य कारण भव है ।

समाधान—कारण बही कहलाना है ओ कार्य की उत्पत्ति में व्यापार काला है । जैसे कुम्हार घट की उत्पत्ति में व्यापार करना है इसीप्रित्त घट का कारण माना जाता है । भूतकालीन ज्ञान अवस्था का ज्ञान और भविष्यकालीन मरण, प्रबोध और अनिष्टि की उत्पत्ति में व्यापार नहीं करने, अतः उन्हें कारण नहीं माना जा सकता ।

शब्द—भूतकालीन ज्ञान-अवस्था के ज्ञान का और भविष्य-कालीन मरण का प्रबोध और अनिष्टि की उत्पत्ति में व्यापार होता है, यह मान लेने में क्या त्रुटि है ?

समाधान—व्यापार बही करेगा ओ विश्रमान होगा । ओ नष्ट हो चुका है अथवा ओ अभी उत्पन्न हो नहीं हुआ वह अविश्रमान या असन् है । असन् किसी कार्य की उत्पत्ति में व्यापार नहीं कर सकता । और व्यापार किए बिना ही कारण मान लेने पर चाहे जिसे कारण मान लेना पड़ेगा ।

सहचर हेतु का समर्थन

महचारिणः परस्परस्वरूपपरित्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः
सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च सहचरहेतोरपि श्रोकतेषु नानु-
मनेशः ॥ ७६ ॥

महत्त्व . . . न आदि का स्वरूप भिन्न-भिन्न है।
अतः उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता; इस कारण
हेतु का पूर्वोक्त हेतुओं में समावेश होना सम्भव नहीं है।

विवेचन—रूप और रस महत्त्व हैं और दोनों का तत्त्व
भिन्न-भिन्न है। रूप चक्षु-प्राप्य होता है, रस त्रिहो-प्राप्य है।
स्वरूप भेद होता है वही तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता।
तादात्म्य सम्बन्ध के बिना स्वभाव हेतु में समावेश नहीं हो सकता।
इसके अनिमित्त रूप रस आदि महत्त्व माय-माय उत्पन्न होते हैं।
साय-माय उत्पन्न होने वालों में कार्य कारणभाव सम्बन्ध नहीं होता।
इस कारण महत्त्व हेतु किसी भी अन्य हेतु में अन्तर्गत नहीं हो
जा सकता। उसे अलग हेतु स्वीकार करना चाहिये।

हेतुओं के उदाहरण

ध्वनिः परिणतिमान्, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्,
प्रयत्नानन्तरीयकः स परिणतिमान् यथा स्तम्भः । यो वा
परिणतिमान् स न प्रयत्नानन्तरीयको यथा बान्धव्येयः
प्रयत्नानन्तरीयकश्च ध्वनिस्तस्मात् परिणतिमानिति व्याप्य
साध्येनाविरुद्धस्यापलब्धिः साधर्म्येण बंधर्म्येण च ॥ ७७

अर्थ—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता
है, जो प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है, उसे स्तम्भ
अथवा जो अनित्य नहीं होता वह प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता है।
बान्धव्येय । शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है, अतः वह अनित्य
है (विधिसाधक) साध्य में अविरुद्ध व्याप्य को उपलब्धि अथवा
व्यतिरेक द्वारा बनाई गई है।

विशेष—यहाँ अनुमान के चोख व्यवस्था बताया गया है—
 'परिणतिमान्' माध्य है, 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु है, 'वसन्ध' माध्य
 हान्न और 'वान्धेय' वैश्वं ह्यहान्न है 'वसन्ध' प्रयत्नानन्तरीयक
 'ना है' उपलब्ध है, 'अतः' वह परिणतिमान है' निगमन है ।

जो अन्य देश में रहे वह व्याप्य बदलाता है और जो अधिक
 न में रहे वह व्यापक बदलाता है । जैसे परिणतिमान् मेघ, इन्द्र-
 पुत्र और पटञ्जल आदि में रहता है पर 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' सिर्फ
 इन्द्र आदि में रहता है मेघ आदि प्राकृतिक वस्तुओं में नहीं रहता ।
 कारण प्रयत्नानन्तरीयकत्व और परिणतिमान् व्यापक है । यहाँ
 परिणतिमान् माध्य में अविरुद्ध प्रयत्नानन्तरीयकत्व रूप व्याप्य हेतु
 'वास्तव्य' है ।

अविरुद्ध कार्योपक्रमि

अस्त्यत्र गिरिनिकुञ्जे धनञ्जयो, भूमगमुपलम्भात्,
 तं कार्यस्य ॥ ७८ ॥

अर्थ—इस गिरिनिकुञ्ज में अग्नि है, क्योंकि भूम है वह
 अविरुद्ध कार्योपक्रमि का उदाहरण ।

विशेष—यहाँ अग्नि माध्य से अविरुद्ध भूम-कार्य-की उप-
 लब्धि है ।

अविरुद्ध कार्योपक्रमि

मविष्यति धर्षं,
 रणस्य ॥ ७९ ॥

अर्थ—वस्तु-समूह अनेकान्तरूप है क्योंकि एकत्व की अनुपलब्धि है । —

विवेचन—यहाँ अनेकान्तरूपता साध्य में विरुद्ध भाव की अनुपलब्धि है । अतः यह विरुद्धत्वमात्रानुपलब्धि है ।

विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि

विरुद्ध व्यापकानुपलब्धिर्न्याय्यस्य द्वाया, एथानुपलब्धेः ॥ १०८ ॥

अर्थ—यहाँ द्वाया है, क्योंकि उभयता की अनुपलब्धि है ।

विवेचन—यहाँ द्वाया-साध्य से विरुद्ध व्यापक अनुपलब्धि होने से यह विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि है ।

विरुद्ध सहचरानुपलब्धि

विरुद्ध सहचरानुपलब्धिर्न्याय्यस्य मिथ्याज्ञानस्य दृष्टिर्न्याय्यस्य मिथ्याज्ञानानुपलब्धेः ॥ १०९ ॥

अर्थ—इस पुरुष में मिथ्याज्ञान है, क्योंकि मिथ्याज्ञान की अनुपलब्धि है । —

विवेचन—यहाँ मिथ्याज्ञान-साध्य से विरुद्ध सहचरत्व की अनुपलब्धि होने से यह विरुद्ध सहचरानुपलब्धि है ।

इस प्रकार हमने हुए तथा इसी प्रकार के अन्य हेतुओं की प्रतीति का यह सुगतम ज्ञान यह है—

(१) मद्यमे पदमे माध्य को देखो : माध्य यदि सदभाव रूप ... हेतु को विधिमापक और अभावरूप हो तो निषेधसाधक समझो ।

(२) इसी प्रकार हेतु यदि सदभाव रूप है तो उसे उपलब्धि ओ और निषेधरूप हो तो अनुपलब्धि समझो ।

(३) माध्य और हेतु—दोनों यदि सदभावरूप हों या दोनों विधिरूप हों तो हेतु को 'अविरुद्ध' समझना चाहिए । दोनों में कोई एक सदभावरूप हो और एक अभाव रूप हो तो 'विरुद्ध' समझना चाहिए ।

(४) अन्न में माध्य और हेतु का परस्पर कैसा सम्बन्ध है, सोचा विचार करो । हेतु यदि माध्य में उत्पन्न होता है तो कार्य होगा, माध्य को उत्पन्न करता है तो कारण होगा, पूर्वभासी है तो पूर्वचर होगा, बाद में होता है तो उत्तरचर होगा । अगर दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है तो व्याप्य या व्यापक होगा । दोनों माध्य-माध्य रहते हों तो सहचर होगा ।



आत के भेद

स च द्वेधा—लौकिको लोकोत्तरश्च ॥ ६ ॥

लौकिको जनकादिः, लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः ॥ ७ ॥

अर्थ—आत दो प्रकार के होते हैं—(१) लौकिक आत जो
(२) लोकोत्तर आत ।

पिता आदि लौकिक आत हैं और तीर्थकर आदि लोकोत्तर
आत हैं ॥

विवेचन—लोकव्यवहार में पिता माता आदि मान्य
होते हैं अतः वे लौकिक आत हैं और मोक्षमार्ग के उपदेश में वे
गणेश आदि प्रामाणिक होते हैं इसलिए वे लोकोत्तर आत हैं।

मीमांसक लोग सर्वज्ञ नहीं मानते हैं। उनके मन के अनुसार
कोई भी पुरुष, कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। उनमें कोई कहे कि
सर्वज्ञ नहीं हो सकता तो आपके आगम भी सर्वज्ञोक्त नहीं हैं। कि
कहें प्रमाण कैसे माना जाय ? तब वे कहते हैं—“वेद इमां न
आगम है और वह न सर्वज्ञोक्त है न असर्वज्ञोक्त है। वह हिमो न
उपदेश नहीं है, किसी ने उसे बनाया नहीं है। वह अनादिकाल से
ही चला आ रहा है। इसी कारण वह प्रमाण है।” मीमांसकों ने
इस मन का विरोध करने हुए यहाँ यह प्रतिपादन किया गया है कि
आज्ञोक्त होने से ही कोई वचन प्रमाण हो सकता है, अन्यथा नहीं।

८ अकारादिः पाँदुगलिको वर्णः ॥ ६ ॥

घर्णानामन्योन्यापेक्षायां निरपेक्षा मंडतिः पदम्,
दानां तु वाक्यम् ॥ १० ॥

अर्थ—घर्ण, पद और वाक्य रूप वचन कहलाता है ।

भाषावर्गणा से घने हुए अ आदि वर्ण कहलाते हैं ॥

परस्पर मापेत्त वर्णों के निरपेक्ष समूह को पद कहते हैं और
परस्पर मापेत्त पदों के निरपेक्ष समूह को वाक्य कहते हैं ॥

विशेषण—घर्ण, पद और वाक्य ये मिलकर वचन कहलाते
हैं । अ, आ, आदि स्वर्णों को तथा क, ख, ग, आदि व्यञ्जनों को वर्ण
कहते हैं । पद वर्णों भाषावर्गणा नामक पाँदुगल दृश्य में बनते हैं ।
इन वर्णों के पादस्परिक मेल से पद बनता है और पदों के मेल से
वाक्य बनता है ।

वर्णों का मेल जब ऐसा होता है कि हममें किसी और वर्ण
की मिलाने की आवश्यकता न रहे और मिले हुए बारी बारी किन्हीं
अर्थ का बोध करावे तभी उन्हें पद कह सकते हैं, निरर्थक वर्ण-समूह
को पद नहीं कह सकते । जैसे 'महावीर' पद वर्णों समूह पर है, क्योंकि
हमें वर्धमान भगवान के अर्थ का बोध होता है और इस अर्थबोध
के बिना और किसी भी वर्णों की आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार
वर्णों का बड़ी समूह वाक्य कहलाता है, जो पाद अर्थ का बोध कराता
है और अर्थ के बोध के लिए अन्य किसी पद की अपेक्षा न
करता हो ।

तत्र अर्थबोधक के है ?

स्वामाविक्रमार्थमप्यामर्षबोधनिबन्धनं शब्दः ॥ ११ ॥

आप्त के भेद

५ च द्वेधा—लौकिको लोकोत्तरश्च ॥ ६ ॥

लौकिको जनकादिः, लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः ॥ १

अर्थ—आप्त दो प्रकार के होते हैं—(१) लौकिक आप्त हैं
(२) लोकोत्तर आप्त ।

पिता आदि लौकिक आप्त हैं और तीर्थकर आदि लोकोत्तर आप्त हैं ॥

विवेचन—लोकव्यवहार में पिता माता आदि प्रामाणिक होते हैं अतः वे लौकिक आप्त हैं और मोक्षमार्ग के उपदेश में तीर्थकर गणेश आदि प्रामाणिक होते हैं इसलिए वे लोकोत्तर आप्त हैं ।

मीमामस लोग सर्वज्ञ नहीं मानते हैं । उनके मत के अनुसार कोई भी पुरुष, कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता । उनमें कोई बड़े बड़े होते हैं अतः वे लौकिक आप्त हैं और मोक्षमार्ग के उपदेश में तीर्थकर गणेश आदि प्रामाणिक होते हैं इसलिए वे लोकोत्तर आप्त हैं ।

मीमामस लोग सर्वज्ञ नहीं मानते हैं । उनके मत के अनुसार कोई भी पुरुष, कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता । उनमें कोई बड़े बड़े होते हैं अतः वे लौकिक आप्त हैं और मोक्षमार्ग के उपदेश में तीर्थकर गणेश आदि प्रामाणिक होते हैं इसलिए वे लोकोत्तर आप्त हैं ।

वचन का अर्थ

१. वर्णपदवाक्यात्मकं वचनम् ॥ ८ ॥

अर्थ—स्वभाविक शक्ति और मंडेन के द्वारा शब्द, पदों का बोधक होना है।

विवेचन—शब्द को सुनकर उसमें पदार्थ का बोध क्यों होना है ? इस प्रश्न का यहाँ समाधान किया गया है। शब्द के पदार्थ का ज्ञान होने के दो कारण हैं—(१) शब्द की स्वाभाविक शक्ति और (२) मंडेन।

(१) स्वाभाविक शक्ति—जैसे ज्ञान में हीन पदार्थ का ज्ञान कराने की स्वाभाविक शक्ति है, अथवा सूर्य में पदार्थों को प्रकाशित कर देने की स्वाभाविक शक्ति है, उसी प्रकार शब्द में अभिव्यक्त पदार्थ का बोध कराने की शक्ति है। इस शक्ति को योग्यता अथवा वाचक शक्ति भी कहते हैं।

मंडेन—प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक पदार्थ का बोध कराने की शक्ति विद्यमान है। किन्तु एक ही शब्द यदि संसार में समस्त पदार्थों का वाचक बन जायगा तो लोक-व्यवहार नहीं चलेगा। लोक-व्यवहार के लिए यह आवश्यक है कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का वाचक हो। ऐसी व्यवस्था लाने के लिये मंडेन की आवश्यकता है।

इस प्रकार स्वाभाविक सामर्थ्य और मंडेन के द्वारा शब्द से पदार्थ का ज्ञान होता है।

अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं प्रदीपवत्, पदार्थोपपत्त्यर्थत्वे पुनः पुरुषगुणदोषावनुसरतः ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसे दीपक स्वभाव में पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार शब्द स्वभाव में पदार्थों को प्रकाशित करता है; किन्तु सत्यता और असत्यता पुरुष के गुण-दोष पर निर्भर है।

निषेधन—दीपक के समीप अग्न्या या बुग जो भी पशयं होगा उसीको दीपक प्रकाशित करेगा वसी प्रकार राज्य बना हुआ प्रकाश किये जाने पर पदार्थ का बोध करा देगा, चाहे वह पशयं का स्वविक हो या अस्वात्मविक हो, बालनिक हो या सत्य हो । तत्पर्य पर है कि राज्य का कार्य पदार्थ का बोध कराना है, तबमें सदाई और मुठाई के बना गुणों और दोषों पर निर्भर है । बना यदि गुणवान् होगा तो शारिरिक ज्ञान सत्य होगा, बना यदि दोषी होगा तो शारिरिक ज्ञान मिथ्या होगा ।

(
राज्य की प्रकृति

महेश्वर्यं च निर्विधिं प्रतिरोधाम्पराश्वर्यमभिधानः सत्स-
मर्गमनुगच्छति ॥ १३ ॥

अर्थ—राज्य, महेश्वर्य विधि और निषेध के द्वारा अपने राज्य-
मर्ग का प्रतिपादन करता हुआ सप्तमर्गों के रूप में प्रकृत होता है ।

सप्तमर्गों का अर्थ

एकत्र यस्तुन्येकैकधर्मैर्यनुयोगशशाद्विरोधेन व्यस्तयोः
सस्तपोष विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्परार्द्धितः सप्तधा-
व्यप्रयोगः सप्तमह्वी ॥ १४ ॥

तदर्थम्—अथ एक वदार्थ में अनन्त धर्म पाये जाते हैं, इससे
 यों कहें कि अनन्त धर्मों का विह्वल वदार्थ कहना है। इन धर्मों
 में से किसी एक धर्म को लेकर कोई पूछे कि, अमुक धर्म क्या
 है ? या अमनू है ? या मन् और अमन् उभय क्या है ? इत्यादि। वे
 इन धर्मों के अनुसार उस एक धर्म के विषय में मान प्रकाश के रूप
 देने पड़ेंगे। अथवा उस के साथ 'इवान्' (कथयिन्) शब्द जुड़
 होगा। कोई उत्तर विधि क्या होगा—अर्थात् कोई उत्तर ही में ही
 को-जही में होगा। विन्तु विधि और निषेध में विरोध नहीं हो
 आदिये। इस प्रकार मान प्रकाश के उत्तरों को—अर्थात् वचन प्रयोगों को
 मानभंगी कहते हैं।

मानभंगी में हमें यह ज्ञान होना है कि वदार्थ में धर्म किस
 प्रकार से रहते हैं।

मान भंग

१ तद्वत्त्वा—स्यादस्यैव मांमिति विधिद्वन्द्वस्या प्रथमो
 मङ्गः ॥ १५ ॥

स्यादस्यैव मांमिति निषेधद्वन्द्वस्या द्वितीया मङ्गः ॥ १६ ॥

स्यादस्यैव स्यामास्यैव क्रमत्वा विधिनियमद्वन्द्वस्या
 तृतीया ॥ १७ ॥ {

स्यादस्यैव स्यामास्यैव विधिनियमद्वन्द्वस्या चतुर्थी ॥ १८ ॥

स्यादस्यैव स्यामास्यैव विधिनियमद्वन्द्वस्या पञ्चमी
 विधिनियमद्वन्द्वस्या षष्ठ्या मङ्गः ॥ १९ ॥

स्यादस्यैव स्यामास्यैव निषेधद्वन्द्वस्या सप्तमी
 विधिनियमद्वन्द्वस्या अष्टम्या मङ्गः ॥ २० ॥

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति कमनो
विधिनिषेधकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च मज्जम
रति ॥ २१ ॥

१ कथं—स्यान् (कथञ्चिन्) मद्य पदार्थ हैं, इस प्रकार विधि
की कल्पना से पदस्ता भङ्ग होता है ॥

२ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ नहीं हैं, इस प्रकार निषेध की कल्पना
से दूमरा भंग होता है ॥

३ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ हैं, कथञ्चिन् नहीं हैं, इस प्रकार क्रम से
विधि और निषेध की कल्पना से तृतीय भंग होता है ॥

४ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ अवक्तव्य हैं, इस प्रकार एक साथ विधि-
निषेध की कल्पना से चौथा भङ्ग होता है ॥

५ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ हैं और कथञ्चिन् अवक्तव्य हैं, इस
प्रकार विधि की कल्पना से और एक साथ विधि-निषेध की कल्पना से
पंचम भङ्ग होता है ॥

६ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ नहीं हैं और कथञ्चिन् अवक्तव्य हैं, इस
प्रकार निषेध की कल्पना से और एक साथ विधि-निषेध की कल्पना
से षष्ठ्या भङ्ग होता है ॥

७ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ हैं, कथञ्चिन् नहीं हैं, कथञ्चिन् अवक्तव्य
हैं, इस प्रकार क्रम से विधि-निषेध की कल्पना से और युगपद् विधि-
निषेध की कल्पना से सातवां भङ्ग होता है ।

विशेष—सामर्थ्य की कल्पना से बताया गया है कि एक ही

धर्म के विषय में मात्र प्रकार के वचन-प्रयोग को सप्रभंगी कहते हैं। यहाँ मात्र प्रकार का वचन-प्रयोग करके सप्रभंग को ही स्पष्ट किया गया है। घट पदार्थ के एक अस्तित्व धर्म को लेकर सप्रभंगी व प्रकार बनती है—

(१) स्यात् अस्ति घटः (२) स्यात् नास्ति घटः (३) स्यात् अस्ति नास्ति घटः (४) स्यात् अवक्तव्यो घटः (५) स्यात् अस्ति अवक्तव्यो घटः (६) स्यात् नास्ति अवक्तव्यो घटः (७) स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यो घटः ।

यहाँ अस्तित्व धर्म को लेकर कहीं विधि, कहीं निषेध और कहीं विधि-निषेध दोनों क्रम में और कहां दोनों एक साथ, घट बनाये गये हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि घट यदि है तो नहीं है ? घट नहीं है तो है कैसे ? इस विरोध को दूर करने के लिये 'स्यात्' (कथंचित्) शब्द सषट्क साथ जोड़ा गया है। 'स्यात्' का अर्थ है, किसी अपेक्षा में। जैसे—

(१) स्यात् अस्ति घटः—घट कथंचित् है—अर्थात् स्वसंज्ञ, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से घट है।

(२) स्यात् नास्ति घटः—घट कथंचित् नहीं है—अर्थात् स्वसंज्ञ, स्वकाल, परकाल और परभाव में घट नहीं है।

(३) स्यात् अस्ति नास्ति घटः—घट कथंचित् है, कथंचित् नहीं है—अर्थात् घट में स्व द्रव्यादि में अस्तित्व और पर द्रव्यादि में नास्तित्व है। यहाँ क्रम से विधि और निषेध की विवक्षा की गई है।

(४) स्यात् अवक्तव्यो घटः—घट कथंचित् अवक्तव्य है—अर्थात् विधि और निषेध दोनों की एक साथ विवक्षा होती है न कि दोनों के

एक साथ बनाने वाला कोई शब्द न होने से पट को अवगम्य कहना पड़ा है ।

(४) केवल विधि और एक साथ विधि-निषेध की विवक्षा करने में 'पट है और अवगम्य है' यह पाँचवों भंग बनता है ।

(५) केवल निषेध और एक साथ विधि-निषेध-दोनों की विवक्षा में 'पट नहीं है और अवगम्य है' यह छठा भंग बनता है ।

(६) कम से विधि-निषेध-दोनों की और एक साथ विधि-निषेध-दोनों की विवक्षा में 'पट है, नहीं है, और अवगम्य है' यह सातवों भंग बनता है ।

प्रथम भंग के पृथक्त्व का निराकरण

विधिप्रधान एव च्चनिरिति न माधु ॥ २२ ॥

निषेधस्य तस्मादप्रतिपक्षिप्रसक्तेः ॥ २३ ॥

प्राधान्येनैव च्चनिस्तमभिधत्ते इत्यप्यमार् ॥ २४ ॥

कश्चित् कदाचित् कथञ्चित्प्राधान्येनाप्रतिपक्षस्य तस्या-
प्राधान्यानुपपत्तेः ॥ २५ ॥

अर्थ—राश्र प्रधानरूप में विधि को ही प्रतिपादन करता है
ए कथन ट'क नहीं ॥

क्योंकि शब्द में निषेध का ज्ञान नहीं हो सकेगा ॥

राश्र निषेध को अप्रधान रूप में ही प्रतिपादन करता है, वह
यन भी निस्सार है ।

क्योंकि जो वस्तु कहीं, कभी, किसी प्रकार प्रान्त रूप में नहीं जानी गई है वह अप्रधान रूप में नहीं जानी जा सकती ॥

विवेचन—समसंगी का स्वरूप बनाने हुए शब्द को निषेध आदि का वाचक कहा गया है । यहाँ 'शब्द विधि का ही वाचक है' इस एकान्त का खण्डन किया गया है । इस खण्डन का प्रत्यक्ष रूप में समझना सुगम होगा—

एकान्तवादी—शब्द विधि का ही वाचक है, निषेध का वाचक नहीं है ।

अनेकान्तवादी—आपका कथन ठीक नहीं है । ऐसा ब्रह्म से तो निषेध का ज्ञान शब्द में होगा ही नहीं ।

एकान्तवादी—शब्द से निषेध का ज्ञान अप्रधान रूप में है, प्रधान रूप में नहीं ।

अनेकान्तवादी—जिस वस्तु को कभी कहीं प्रधानरूप में असली तौर पर नहीं जाना उसे अप्रधान रूप में जाना नहीं जा सकता । अतः निषेध यदि कभी कहीं प्रधान रूप में नहीं जाना वह तो अप्रधान रूप में भी वह नहीं जाना जा सकता । जो असली के मत को नहीं जानता वह पंचाश केमरी को कैसे जानेगा ? अतएव शब्द को विधि का ही वाचक नहीं मानना चाहिए ।

द्वितीय भंग के एकान्त का निराकरण

निषेधप्रधान एव शब्द इत्यपि प्रागुक्तन्यायान्न
स्तम् ॥ २६ ॥

अर्थ—राष्ट्र प्रधान रूप से निषेध का ही वाचक है, यह न कथन भी पूर्वोक्त न्याय से स्पष्टित हो गया ।

विवेचन—राष्ट्र यदि प्रधान रूप में निषेध का ही वाचक माना तो उसमें विधि का ज्ञान कभी नहीं होगा । विधि अप्रधान रूप राष्ट्र में मालूम होनी है, यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि त्रिमे रूप से कभी कहीं नहीं जाना उमें से गौण रूप में भी नहीं आ सकते ।

तृतीय भंग के एकांश का निराकरण

क्रमादुभयप्रधान एवायमित्यपि न सार्थकः ॥ २७ ॥

अस्य विधिनिषेधान्यतरप्रधानत्वानुभवस्याऽप्यशक्य-
त्वात् ॥ २८ ॥

अर्थ—राष्ट्र क्रम से विधि-निषेध का (तीसरे भंग का) ही रूप में वाचक है, ऐसा कहना भी समीचीन नहीं है ॥

क्योंकि राष्ट्र अकेले विधि का और अकेले निषेध का प्रधान वाचक है, इस प्रकार होने वाला अनुभव मिथ्या नहीं है ॥

विवेचन—राष्ट्र सिर्फ तीसरे भंग का वाचक है, इस एकान्त में शक्यता किया गया है, क्योंकि राष्ट्र तीसरे भंग की तरह और द्वितीय का भी वाचक है, ऐसा अनुभव होता है ।

अनुर्थ भंग के एकांश का निराकरण

युगपद्विध्यात्मनोऽर्थस्याऽवाचक एवासाविति च न
प् ॥ २९ ॥

तस्यावस्तव्यशब्देनाप्यवाच्यत्वप्रसङ्गात् ॥ ३० ॥

अर्थ—शब्द एक मात्र विधि-निषेध रूप पदार्थ का वाचक ही है, ऐसा कहना उचित नहीं है ॥

क्योंकि ऐसा मानने से पदार्थ अवस्तव्य शब्द में अवस्तव्य नहीं होगा ॥

विवेचन—शब्द चतुर्थ अंग अर्थात् अवस्तव्यता को ही इस पादन करता है, ऐसा मान लेने पर पदार्थ सर्वथा अवस्तव्य जायगा; फिर वह अवस्तव्य शब्द में भी नहीं कहा जा सकेगा। केवल चतुर्थ अंग का वाचक शब्द नहीं माना जा सकेगा।

पंचम मङ्ग के प्रकीर्ण का निराकरण

विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचकः मधुमयात्मनो युगपदवा
एव सं इत्येकान्तोपि न कान्तः ॥ ३१ ॥

निषेधात्मनः सद्व्यात्मनोऽर्थस्य वाचकत्वावाचक
म्यामपि शब्दस्य प्रतीपमानत्वात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—शब्द विधि रूप पदार्थ का वाचक होता है। उभयात्मक-विधि निषेध रूप पदार्थ का युगपत् अववाचक ही है, यही पंचम अंग का ही वाचक है; ऐसा एकान्त मानना ठीक नहीं है ॥

क्योंकि शब्द निषेध रूप पदार्थ का वाचक और युगपदवाचक (विधि-निषेध रूप) पदार्थ का अववाचक है, ऐसी भी प्रतीति होती है ॥

विशेषण—शब्द केवल पंचम भंग का ही वाचक है, ऐसा मानना मिथ्या है क्योंकि वह 'स्वात् नास्ति अवच्छेद्य' रूप छठे भङ्ग का वाचक भी प्रतीत होता है ।

एक भङ्ग के एकांत का निराकरण

निषेधात्मनोऽर्थस्यैव वाचकः मनुभयात्मनो युगपद-
वाचक एवायमित्यवधारणं न रमणीयम् ॥ ३३ ॥

इतरथाऽपि संबेदनात् ॥ ३४ ॥ १

अर्थ—जब निषेध रूप पदार्थ का वाचक होता हुआ विधि-
निषेध रूप पदार्थ का युगपत् अववाचक ही है, ऐसा एकान्त निश्चय
रना ठीक नहीं है ॥

क्योंकि अन्य प्रकार में भी शब्द पदार्थ का वाचक सात्व-
त है ॥

विशेषण—शब्द मित्रं नास्ति अवच्छेद्यता रूप छठे भङ्ग का
वाचक है ऐसा एकान्त भी मिथ्या है क्योंकि शब्द प्रथम, द्वितीय
दि भङ्गों का भी वाचक प्रतीत होता है ।

सप्तमो भङ्ग के एकांत का निराकरण

क्रमक्रममाभ्यामुभयस्वभावस्य भावस्य वाचकधारा-
य ध्वनिनान्यधेत्यपि मिथ्या ॥ ३५ ॥

विधिमात्रादि प्रधानतयाऽपि तस्य प्रसिद्धेः प्रतीतिः ॥ ३६ ॥

अर्थ—शब्द क्रम में उभयरूप और युगपत् उभयरूप पदार्थ

ही प्रश्न इसलिए ही संकट हैं कि उसे जिज्ञासाएँ सात ही हो हैं । जिज्ञासाएँ मान इसलिए होनी हैं कि उसे मन्देह मान हो मन्देह मान इसलिए होते हैं कि मन्देह के प्रत्येक धर्म सात प्रकार के ही हो सकते हैं ।

सप्तमंती के दो भेद

इयं सप्तमंगी प्रतिमंगं सकलादेशस्वभावा विकलादेश-
स्वभावा च ॥ ४३ ॥

अर्थ—यह सप्तमंगी प्रत्येक भंग में दो प्रकार की है—सकलादेश स्वभाव वाली और विकलादेश स्वभाव वाली ।

विवेचन—जो सप्तमंगी प्रमाण के अधीन होती है वह सकलादेश स्वभाव वाली कहलाती है और जो नय के अधीन होती है वह विकलादेश स्वभाव वाली होती है ।

सकलादेश का स्वरूप

प्रमाणप्रतिपक्षानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिर्भावे-
वृत्तिशायान्प्राद् अमेदोपचाराद् वा योगपथेन प्रतिपादकं इदं
सकलादेशः ।

अर्थ—प्रमाण में मानी हुई अतन्त्र पक्षों वाली वस्तु को, कालादि के द्वारा, अमेद की प्रयोजना से अथवा अमेद का कारण कहें, वह माध प्रतिपादन करने वाला वस्तु सकलादेश कहलाता है ॥

विशेषतः—वस्तु में अनन्त धर्म हैं, यह बात प्रमाण से सिद्ध । अतएव किसी भी एक वस्तु का पूर्ण रूप से प्रतिपादन करने के लिये अनन्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि एक शब्द एक धर्म का प्रतिपादन कर सकता है । मगर ऐसा करने से लोक व्यवहार नहीं चल सकता । अतएव हम एक शब्द का प्रयोग करते हैं । यह एक शब्द मुख्य रूप से एक धर्म का प्रतिपादन करता है, और शेष सबे हुए धर्मों की उम एक धर्म से अभिन्न मान लेते हैं । इससे एक शब्द से एक धर्म का प्रतिपादन हुआ और उमसे अभिन्न धर्मों के कारण शेष धर्मों का भी प्रतिपादन होगा । इस उपाय से एक ही शब्द एक साथ अनन्त धर्मों का अर्थात् सम्पूर्ण बस्तु का प्रतिपादन हो जाता है । इसी को सकलादेश कहते हैं ।

शब्द द्वारा साक्षात् रूप से प्रतिपादित धर्म से, शेष धर्मों का अभेद काज आदि द्वारा होता है । काज आदि आठ हैं—(१) काल (२) आत्मरूप (३) अर्थ (४) सम्बन्ध (५) उपकार (६) गुणोद्देश (७) समर्थ (८) शब्द ।

मान लीजिये, हमें अस्तित्व धर्म से अन्य धर्मों का अभेद करना है तो यह इस प्रकार होगा—जीव में जिन बातों में अन्तिम है उसी काल में अन्य धर्म हैं अतः काल की अपेक्षा अस्तित्व धर्म से अन्य धर्मों का अभेद है । इसी प्रकार शेष बातों की अपेक्षा भी अभेद प्रमाणना चाहिये । इसीको अभेद की प्रधानता कहते हैं । इन्द्रार्थिक नव को मुख्य और पर्यायार्थिक नव को गौण कहने से अभेद की प्रधानता होती है । जब पर्यायार्थिक नव मुख्य और इन्द्रार्थिक नव गौण होता है तब अनन्त गुण बालन में अभिन्न नहीं हो सकते । अतएव इन गुणों में अभेद का उपकार करता रहता है । इस प्रकार अभेद की प्रधानता और अभेद के उपकार से

राम रूप शक्ति में नहीं। बौद्धों के इस मन का यहाँ खण्डन किया गया है।

बौद्धों की मान्यता के अनुसार पूर्व क्षण, उत्तर क्षण उत्पन्न करता है और उत्तर क्षण, पूर्व क्षण के आकार का ही है। इस मान्यता के अनुसार घट के प्रथम क्षण में अग्निम उत्पन्न होता है अतएव वहाँ तदुत्पत्ति होने पर भी अग्निम क्षण को नहीं जानता यह तदुत्पत्ति में व्यवहार है। इसी प्रकार न स्तम्भ ममान आकार वाले दूसरे स्तम्भ को नहीं जानता यह तदाकारता में व्यवहार है। जल में प्रविष्टि होने वाला चन्द्रमा, आकाश में व्यवहार है। जल में प्रविष्टि होने वाला चन्द्रमा, आकाश-वन्द्य है। क्षति और तदाकारता दोनों ही फिर भी जल-चन्द्र, आकाश-चन्द्र में नहीं जानता। यह तदुत्पत्ति और तदाकारता दोनों में व्यवहार है।

यदि यह कहें कि यह सब जड़ पदार्थ हैं, इमनिम जानने तो पूर्वकालीन घट-ज्ञान में उत्तरकालीन घट-ज्ञान उत्पन्न हो है और वह तदाकार भी है और ज्ञान-रूप भी है, फिर भी वह उत्तरकालीन घट-ज्ञान पूर्वकालीन घट-ज्ञान को नहीं जानता (घट को ही जानता है), अतएव ज्ञानरूपता होने पर भी तदुत्पत्ति और तदाकारता में व्यवहार आता है।

इसमें यह मिथ्या दृष्टि कि तदुत्पत्ति और तदाकारता अज्ञान या मिथ्या भी प्रतियोगिता परार्थ के ज्ञान में कारण नहीं हैं, किन्तु व्यवस्था होती है।

पंचम परिच्छेद

प्रमाण के विषय का निरूपण



प्रमाण का विषय

तस्य विषयः सामान्यविशेषाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु ॥१॥

अर्थ—सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मों वाली वस्तु प्रमाण का विषय है।

विवेचन—सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मों का समूह ही वस्तु है। अनेक पदार्थों में एकसो प्रतीति उत्पन्न करने वाला और उन्हें एक ही राज्य का राज्य बनाने वाला धर्म सामान्य कहलाता है। जैसे अनेक गावों में 'यह भी गौ है, यह भी गौ है', इस प्रकार का ज्ञान और राज्य प्रयोग कराने वाला 'गोत्व धर्म' सामान्य है। इससे विपरीत एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ में भेद कराने वाला धर्म विशेष कहलाता है, जैसे ऊर्ध्व अनेक गावों में नीलावन, लमार्ह, रापेदी आदि। सामान्य और विशेष जैसे वस्तु के स्वभाव हैं उसी प्रकार और भी अनेक धर्म इसके स्वभाव हैं। ऐसी अनेक स्वभाव वाली वस्तु ही प्रमाण का विषय है।

सामान्य-विशेषरूपता का समर्थन

अनुगतविशिष्टाकारप्रतीतिविषयत्वात्, प्राचीनोचरा-

कारपरित्यागोपादानावस्थानस्वरूपपरित्याग्यक्रियात्मान
घटनाद्य ॥ २ ॥

अर्थ—सामान्य विरोध रूप पदार्थ प्रमाण का विषय है, कि वह अनुगत प्रतीति (महग ज्ञान) और विनिष्ठाकार इन्हीं भेद-ज्ञान) का विषय होता है। दूसरा हेतु—क्योंकि पूर्व वर्णनारा रूप, उत्तर पर्याय के उत्पन्न रूप और दोनों पर्यायों में इन नि रूप परिणति में अर्थक्रिया की शक्ति देखी जाती है।

विवेचन—जिन पदार्थों में एक दृष्टि में हमें महगता—महगता की प्रतीति होती है, उन्हीं पदार्थों में दूसरी दृष्टि में विमहगता—विरोध की प्रतीति भी होने लगती है। दृष्टि में भेद होने पर भी उन एक पदार्थ में महगता और विमहगता न हो सब एक उन्हीं नहीं हो सकती। इसमें यह निश्चय है कि पदार्थ में महगता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला सामान्य है और विमहगता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला विरोध भव भी है।

इसके अनिमित्त पदार्थ पर्याय रूप में उत्पन्न होता है, वह होता है, जिस भी मुख्य रूप में अपनी स्थिति का प्रसरण होता है। इसमें उत्पन्न, उत्पन्न और प्रीत्य सब होकर ही वह अपनी प्रिया काव है। वही उत्पन्न-उत्पन्न पदार्थ की विरोधरूपता निश्चय करने हैं और प्रीत्य में प्रत्यक्ष रूपता निश्चय करता है। इन दोनों हेतुओं में यह स्पष्ट होता है कि सामान्य और विरोध दोनों ही वस्तु के भव हैं।

सामान्य का विवरण

सामान्य द्विप्रकार—निर्दिष्टसामान्यपूर्णतासामान्य ॥

पर्यायस्तु क्रममायी, यथा-तत्रैव सुखदुःखादि ॥ ८ ॥

अर्थ—विरोध भी दो प्रकार का है—गुण और पर्याय ॥
महभाषी अर्थान् सदा साथ रहने वाले धर्म को गुण कहते हैं।

जैसे—वर्तमान में विद्यमान कोई ज्ञान और भावी ज्ञान का परिणाम को योग्यता।

एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणाम को पर्याय धर्म कहते हैं।
जैसे आत्मा में सुख-दुःख आदि ॥

विवेचन—मदैव द्रव्य के साथ रहने वाले धर्मों को गुण धर्म कहते हैं। जैसे आत्मा में ज्ञान और दर्शन सदा रहते हैं, इनका कभी-बिना नहीं होता। अतएव यह आत्मा के गुण हैं। रूप, रस, गंध इत्यादि मदैव पुद्गल के साथ रहते हैं—पुद्गल में एक क्षण भर के लिए वे कभी न्यारे नहीं होते, अतः रूप आदि पुद्गल के गुण हैं। पुद्गल द्रव्य को भौति अनादि अनन्त होते हैं।

पर्याय इसमें विपरीत है। वह उत्पन्न होती रहती है और नष्ट भी होती रहती है। आत्मा जब मनुष्य-भव का त्याग कर देव-भव ज्ञानी है तब मनुष्य पर्याय का विनाश हो जाता है और देव पर्याय की उत्पत्ति हो जाती है। एक बन्धु की एक पर्याय का नाश होने पर उसके स्थान पर दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है अतएव पर्याय को क्रम मायी कहा है।

पष्ठ परिच्छेद

प्रमाण के फल का निरूपण



प्रमाण के फल की व्याख्या

पत्रप्रमाणेन प्रसाध्यते तदस्य फलम् ॥ १ ॥

अर्थ—प्रमाण के द्वारा जो साधा जाय—निष्पन्न किया ज.,
वह प्रमाण का फल है।

फल के भेद

तद् द्विविधम्—अनन्तर्येण पारम्पर्येण च ॥ २ ॥

अर्थ—फल दो प्रकार का है—अनन्तर (मात्तान्) फल,
और पारम्पर्य फल (परोक्ष फल)

अर्थ-विरण

तद्वानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् ॥ ३ ॥

पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमादासीन्यम् ॥ ४ ॥

शेषप्रमाणानां पुनरुपादानदानोपेक्षापुद्गलः ॥ ५ ॥

अर्थ—अज्ञान की निवृत्ति होना सब प्रमाणों का मात्तान्
है।

केवलज्ञान का परम्परा कथ उद्दामीनता है ॥

शेष प्रमाणों का परम्परागत प्रदण करने की बुद्धि, तत् बुद्धि और उचित-बुद्धि होना है ॥

विवेचन—प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु को जानने के लिये अज्ञान को निवृत्ति हो जाना है वह अनन्तर कल या मरुत् है। अनिज्ञान भूतज्ञान, प्रत्यक्ष, परित आदि सभी ज्ञानों का मरुत् कल अज्ञान का हट जाना ही है।

अज्ञान-निवृत्ति रूप मात्तान् कल के कल को वाग्या का कहने हैं क्योंकि वह अज्ञाननिवृत्ति में उत्पन्न होता है। वाग्या का मरुत्ज्ञानों का समान नहीं है। केवली भगवान केवल ज्ञान में मरुत् वाग्या को जानते हैं, पर न तो उन्हें किसी वस्तु को प्रदण करने की बुद्धि होती है, न किसी वस्तु को ग्यागने की ही। वाग्या होने के लिये सभी वस्तुओं पर वक्तव्य उद्दामीनता का भाव रहता है। अतः केवलज्ञान का परम्परा कथ उद्दामीनता ही है।

केवलज्ञान के अनिहित शेष सादृश्यवहिक प्रत्यक्ष, विरक्त वाग्याविक प्रत्यक्ष और परित प्रमाणों का परम्परा कथ समान है। मरुत् वस्तुओं को प्रदण करने का भाव, ग्याग वस्तुओं को ग्यागने। भाव और उचितवर्गीय वस्तुओं पर उचित करने का भाव होने है प्रमाणों का परम्परा कथ है।

प्रमाण और कल का भेद-भेद

तन्त्रमात्रतः व्याप्टिसमवित्तं च, प्रमाणकल्पान्यतः
दृष्टान्तः ॥ ६ ॥

कल से 'प्रमाण-छलत्वान्यथानुपपत्ति' रूप हेतु में व्यभिचार का
ऐसा नहीं सोचना चाहिए ॥

क्योंकि परम्परा कल भी प्रमाता के साथ तादात्म्य सम्पन्न
होने के कारण प्रमाण से अभिन्न है ॥

क्योंकि प्रमाण रूप से परिणत आत्मा का ही कल का
परिणमन होना, अनुभव मिट्ट है ॥

जो जानना है वही वस्तु को ग्रहण करना है, वही स्पर्श
है, वही उपेक्षा करना है, ऐसा सभी व्यवहार-कुराव लोगों को बत
प्रव होना है ॥

यदि ऐसा न माना जाय तो स्व और पर के प्रमाण के बीच
की व्यवस्था नष्ट हो जायगी ॥

विवेचन—प्रमाण का कल, प्रमाण से कथंविन् भिन्न अवि
है, क्योंकि वह प्रमाण का कल है। जो प्रमाण से भिन्न-अभिन्न
होना वह प्रमाण का कल नहीं होगा, जैसे घट आदि। इस प्रकार है
अनुमान-प्रयोग में दूसरों ने प्रमाण के परम्परा-कल से व्यभिचार
दिया। उन्होंने कहा—'परम्परा कल भिन्न-अभिन्न नहीं है कि वी
वह प्रमाण का कल है, अतः आपका हेतु ग्राह्य है।' इसका जवाब
बत दिया गया है कि परम्परा कल भी प्रमाण से भिन्न नहीं है किन्तु वह
विन् भिन्न अभिन्न है। अतएव हमारा हेतु ग्राह्य नहीं है।

उदा—जगत्तान-बुद्धि आदि परम्परा कल अभिन्न है ॥

उदाहरण—यह प्रमाता से प्रमाण और परम्परा कल के
सम्बन्ध होने से।

संक्षेप—एक प्रमाण में दोनों का सादृश्य कैसे है ?

प्रमाण—जिस आत्मा में प्रमाण होता है वहीमें जगत्
होता है अर्थात् जो आत्मा ब्रह्म को जानता है वही आत्मा में
दण्ड आदि करने की बुद्धि उत्पन्न होती है । एक के जानने में दूसरे
में दण्ड या त्याग करने की भावना उत्पन्न नहीं होती, इससे प्रमाण
और जगत् का एक ही प्रमाण में सादृश्य सिद्ध होता है ।

संक्षेप—ऐसा न माने तो दानि क्या है ?

प्रमाण—प्रथम तो यह कि वही लोगों का ऐसा ही अनुभव
होता है, यतः ऐसा न मानने में अनुभव विरोध होता । इसके अति-
रिक्त ऐसा न मानने में प्रमाण-फल की व्यवस्था ही नष्ट हो जायगी ।
दण्ड के जानने में जिनका उक्त ब्रह्म का महत्त्व कर लेता है।
अन्यथा द्वारा जानने में दण्डका समस्त त्याग कर देगा । अर्थात् एक
में प्रमाण होगा और दूसरे को इसका फल मिल जायगा ।

इस व्यवस्था में बचने के लिए प्रमाण के वाक्यका फल
भी प्रमाण में वर्धित अभिन्न ही मानना चाहिए और ऐसा
न मानने में हेतु में व्यवस्था भी नहीं आता ।

दुष्टः दीप परिच्छेद

अज्ञाननिवृत्तिरूपेण प्रमाणादभिधेन सादृश्यक्षेत्र
अस्त्वनेकान्त इति भारद्वाजीयम् ॥

कवचिन्नस्यापि प्रमाणाद् भेदेन व्यररदानाद् ॥१२॥

साध्यमापनमादेन प्रमाणात्सप्तोः पृथीपमानाद् ॥१३॥

फल से 'प्रमाणकलत्वान्यथानुपपत्ति' रूप हेतु में व्यवहार बा-
ऐसा नहीं सोचना चाहिए ॥

क्योंकि परम्परा फल भी प्रमाता के साथ तादात्म्य सम्प-
होने के कारण प्रमाण से अभिन्न है ॥

क्योंकि प्रमाण रूप से परिणत आत्मा का ही फल ह-
परिणत होना, अनुभव सिद्ध है ॥

जो जानता है वही वस्तु को ग्रहण करता है, वही त्याग
दे, वही उपेक्षा करता है, ऐसा सभी व्यवहार-कुराज लोगों को अनु-
भव होता है ॥

यदि ऐसा न माना जाय तो स्व और पर के प्रमाण के क-
की व्यवस्था नष्ट हो जायगी ॥

विवेचन—प्रमाण का फल, प्रमाण से कथंविन् भिन्न-अभिन्न
है, क्योंकि वह प्रमाण का फल है। जो प्रमाण से भिन्न-अभिन्न नहीं
होता वह प्रमाण का फल नहीं होता, जैसे घट आदि। इस प्रकार है
अनुमान-प्रयोग में हमारे ने प्रमाण के परम्परा-फल से व्यवहार
दिया। उन्होंने कहा—'परम्परा फल भिन्न-अभिन्न नहीं है फिर भी
वह प्रमाण का फल है, अतः आपका हेतु गड़ोप है।' इसका उत्तर यह
दिया गया है कि परम्परा फल भी मनुष्या भिन्न नहीं है किन्तु कर्त-
विन् भिन्न अभिन्न है। अतएव हमारा हेतु गड़ोप नहीं है।

उदा—ज्ज्ञान-बुद्धि आदि परम्परा फल अभिन्न होने।

समाधान—एक प्रमाता में प्रमाण और परम्परा फल ।
तादात्म्य हीन में ।

प्रमाणं हि करणार्थं साधनं, स्वपरव्यवसिति साधनं
तमत्वाद् ॥ १५ ॥

स्वपरव्यवसितिक्रियारूपाज्ञाननिवृत्त्याख्यं फलं
साध्यम्, प्रमाणनिष्पाद्यत्वाद् ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रमाण में सर्वथा अभिन्न अज्ञाननिवृत्ति रूप मात्र
फल से हेतु में व्यभिचार आता है, ऐसी शका नहीं करनी चाहिए ॥

क्योंकि वह—मात्तान् फल भी प्रमाण से कयंचिन् निन्न है—
सर्वथा अभिन्न नहीं है ॥

कयंचिन् भेद इमलिप है कि प्रमाण और फल साध्य और
और साधन रूप से प्रतीत होते हैं ॥

प्रमाण करण रूप साधन है, क्योंकि वह स्व-पर के निन्न
में साधकतम है ॥

स्व-पर का निश्चय होना रूप अज्ञाननिवृत्ति फल साध्य है,
क्योंकि वह प्रमाण से उत्पन्न होता है ॥

विवेक—पहले परम्परा फल को प्रमाण से सर्वथा भिन्न
मान कर हेतु में दोष दिया गया था, यहाँ मात्तान् फल को सर्वथा
अभिन्न मानकर हेतु में व्यभिचार दोष दिया गया है। तात्पर्य यह
कि मात्तान् फल, प्रमाण का फल है पर प्रमाण में कयंचिन् भिन्न
अभिन्न नहीं है। इस प्रकार साध्य के अभाव में हेतु रहने से व्यभि-
चार दोष है।

किन्तु हेतु में मात्तान् फल में व्यभिचार दोष नहीं है, क्योंकि

अज्ञान की भाँति आत्मानु पक्ष भी प्रमाण से कथंचिन् भिन्न और शेषन् अभिन्न है।

शंका—आपने ज्ञान को प्रमाण माना है, अज्ञान निवृत्ति को शान् पक्ष माना है और इन दोनों में कथंचिन् भेद भी कहते हैं। ज्ञान में और अज्ञाननिवृत्ति में क्या भेद है ? यह दोनों एक ही रूप होते हैं ?

समाधान—ज्ञान ही अज्ञान-निवृत्ति नहीं है परन्तु ज्ञान से अज्ञान-निवृत्ति होती है। अतः ज्ञान-रूप प्रमाण साधन है और अज्ञान निवृत्ति रूप फल साध्य है।

प्रमाणा और प्रवृत्ति का भेदाभेद

प्रमातुरपि स्वपरव्यवसितिक्रियायाः कथञ्चिद् भेदः ॥ १७ ॥

कर्तृक्रिययोः साध्यसाधकभावेनोपलम्भात् ॥ १८ ॥ १

कर्ता हि साधकः स्वतन्त्रत्वात्, क्रिया तु साध्या
धृतिर्विर्त्यत्वात् ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रमाणा (ज्ञाता) में भी स्व-पर का निधय होता रूप
जा का कथंचिन् भेद है ॥

क्योंकि कर्ता और क्रिया में साध्य-साधकभाव पाया जाता
॥

स्वतन्त्र होने के कारण कर्ता साधक है और कर्ता द्वारा
रूप होने के कारण क्रिया साध्य है ॥

विशेषण—यही कर्ता (प्रमाणा) और क्रिया (प्रवृत्ति) का

कथंचित् भेद बताया गया है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार क्रिया में कर्ता कथंचित् भिन्न है, क्योंकि दोनों में माध्य-मापक है। जहाँ माध्य-मापक सम्बन्ध होता है वहाँ कथंचित् भेद हो जैसे देवदत्त में और जाने में।

कर्ता मापक है और क्रिया माध्य है।

एकान्त का अर्थ

न च क्रिया क्रियावतः सकाशादभिन्नं भिन्नं च प्रतिनियतक्रियाक्रियावद्भावमङ्गप्रमङ्गात् ॥ २० ॥

अर्थ—क्रिया, क्रियावान् (कर्ता) में न एकान्त भिन्न है और न एकान्त अभिन्न है। एकान्त भिन्न या अभिन्न माननेसे कि 'क्रिया-क्रियावान्' का अभाव हो जायगा।

विवेचन—योग भोग क्रिया और क्रियावान् में एकान्त हो मानते हैं और बीड़ दोनों में एकान्त अभेद मानते हैं। यह दोनों दृष्टि मिथ्या हैं। यदि क्रिया और क्रियावान् में एकान्त भेद माना जाय तो 'क्रिया इस क्रियावान् की है' ऐसा नियत सम्बन्ध नहीं मिलेगा। मान लीजिये, देवदत्ता क्रियावान्, रामन क्रिया कर रहा है। अगर वह क्रिया देवदत्त में इनकी भिन्न है तबही तब देवदत्त में क्रिया है। तब वह क्रिया तब देवदत्त की ही होगी देवदत्त की ही क्यों वह भावगा ? किन्तु वह क्रिया देवदत्त की ही कहानी है इसमें कोई दोष है कि क्रिया देवदत्त (क्रियावान्) में कथंचित् अभिन्न है।

इसमें विपरीत, बीड़ों के कथनानुसार अगर क्रिया और क्रियावान् में एकान्त अभेद मान लिया जाय तो भी 'यह क्रिया इस

अर्थ—अतएव धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष रूप पुरुष
मिद्धि करने वाला प्रमाण और प्रमाण-फल का व्यवहार बाल
ही स्वीकार करना चाहिये ।

आभासों का निरूपण



प्रमाणस्य स्वरूपादिचतुष्टयाद्विपरिणतं तदामासम् ॥२३॥

अर्थ—प्रमाण के स्वरूप, मंश्या, विषय और फल में भिन्न
गीत स्वरूप आदि स्वरूपाभास, मंश्याभास, विषयाभास और
फलाभास कहलाते हैं ।

विवेचन—प्रमाण का जो स्वरूप पड़न बनपाया है वह
भिन्न स्वरूप, स्वरूपाभास है । प्रमाण के भेदों में भिन्न प्रमाण
भेद मानना मंश्याभास है । प्रमाण के पूर्वांश विषय में भिन्न विषय
मानना विषयाभास है और पूर्वांश फल में भिन्न फल स्वरूप
फलाभास है ।

स्वरूपाभास का उदाहरण

अप्रानान्मकानान्मप्रकाशकस्वमायवमासकनिर्विण्ण-
कममांशाः प्रमाणस्य स्वरूपाभासाः ॥ २४ ॥

यथा मयिकर्तायस्यमंशित्वपानरमायकज्ञान-दुर्ग-
विषयंय-मंगुपानप्यवमायाः ॥ २५ ॥

अर्थ—अज्ञान-अज्ञान-प्रकाशक स्वमायवमासक निर्विण्ण
कम, और अमांशः प्रमाण के स्वरूपाभास हैं ॥

यथा-अम्बुधरेषु गन्धर्वनगरज्ञानं, दुःखे सुखज्ञानञ्च ॥१॥

अर्थ—जो ज्ञान वास्तव में सांख्यव्याहारिक प्रत्यक्ष न हो किन्तु सांख्यव्याहारिक प्रत्यक्ष मरीखा जान पड़ता हो वह सांख्यव्याहारिक प्रत्यक्ष साभास है ॥

जैसे—मेघों में गन्धर्व-नगर का ज्ञान होना और दुःख सुख का ज्ञान होना ॥

विवेचन—सांख्यव्याहारिक प्रत्यक्षसाभास का लक्षण स्पष्ट है। यहाँ 'मेघों में गन्धर्व-नगर का ज्ञान', यह उदाहरण इन्द्रिय निर्वाह सांख्यव्याहारिक प्रत्यक्षसाभास का उदाहरण है, क्योंकि यह इन्द्रियों होता है 'और दुःख में सुख का ज्ञान' यह उदाहरण अनिन्द्रियनिर्वाह सांख्यव्याहारिक प्रत्यक्षसाभास का उदाहरण है क्योंकि यह ज्ञान मन में उत्पन्न होता है।

पारमार्थिक प्रत्यक्षसाभास

पारमार्थिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते तदादामामम् ॥२६॥

यथा-शियाल्यस्य राजपेरमं ग्यातर्दीपममुद्रेषु सतडीप-
ममुद्रज्ञानम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष न हो किन्तु पारमार्थिक प्रत्यक्ष मरीखा कहते उसे पारमार्थिक प्रत्यक्षसाभास कहते हैं ॥

जैसे—शिव नामक राजर्षि का अमंगलान्त दीप-ममुद्रों में जहाँ ज्ञान हुआ समुद्रों का ज्ञान ॥

विवेचन—शिव राजर्षि को विभीषणवर्षि ज्ञान उत्पन्न होता है

अर्थ—समान पदार्थ में 'यह वही है' ऐसा ज्ञान होना और उसी पदार्थ में 'यह उसके समान है' इत्यादि ज्ञानों को प्रत्यभिज्ञानाभाम कहते हैं ॥

जैसे—एक साथ उत्पन्न होने वाले बालकों में विपरीत इन हो जाता ॥

विशेषण—देवदत्त के समान दूसरे व्यक्ति को देखकर 'यह वही देवदत्त है' ऐसा ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञानाभाम है। तथापि यह है कि सदृशता में एकता की प्रतीति होना एकत्वप्रत्यभिज्ञानाभाम है और एकता में सदृशता प्रतीत होना सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभाम है।

तर्कभास

असत्यामपि व्याप्ती तदवभासस्तर्कभासः ॥ ३५ ॥

म रयामो मैत्रतनयत्वादित्यत्र यावान्मैत्रतनयः स रयाम इति ॥ ३६ ॥

अर्थ—व्याप्ति न होने पर भी व्याप्ति का आभास होता तर्कभास है।

जैसे—यह व्यक्ति काला है, क्योंकि मैत्र का पुत्र है; यहाँ पर 'जो जो मैत्र का पुत्र होता है वह काला होता है' ऐसी व्याप्ति मान्य होना ॥

विशेषण—व्याप्ति के ज्ञान की तर्क कहते हैं, पर जहाँ वास्तव में व्याप्ति न हो वहाँ व्याप्ति की प्रतीति होना तर्कभास है। जैसे—

अत्यंगयम्भि आइंचे पुरत्था य अणुमण ।
आहारमाइयं सव्वं मणसा वि ण पत्थए ॥

अर्थात् सूर्य अस्त होजाने पर और पूर्व दिशा में उदित हो
मे पहले सब प्रकार के आहार आदि को मन में इच्छा भी न करे

रात्रि-भोजन का निषेध करने वाले इस आगम में 'औरों के
रात्रि में भोजन करना चाहिए' यह प्रतिज्ञा बाधित होजानी दे ।

लोकनिराहत

लोकनिराहतमाध्यधर्मविशेषणो यथा-न पारमार्थिक
प्रमाणप्रमेयव्यवहारः ॥ ४४ ॥

अर्थ- 'प्रमाण और प्रमाण में प्रतीत होने वाले पारमार्थिक
आदि वस्तु का कल्पनिक है' यह लोकनिराहतमाध्यधर्मविशेषण का
भाग है ।

विशेषण-लोक में प्रमाण द्वारा प्रतीत होने वाले सब वस्तु
मनुष्ये माने जाने हैं और ज्ञान भी व्याप्तविक माना जाता है, यद्यपि
उनकी वास्तविकता लोक-धर्मादि में बाधित होने के कारण ही
प्रतिज्ञा लोकवर्धित है ।

लोकनिराहत

लोकनिराहतमाध्यधर्मविशेषणो यथा-नानि प्रमाण
वर्धितप्रमाणम् ॥ ४४ ॥

अर्थ- 'प्रमाण, प्रमाण को मही आदि' यह लोकनिराहत
का भाग है ।

अर्थ—हेत्वाभास तीन हैं—(१) असिद्ध हेत्वाभास (२) विरुद्ध-हेत्वाभास (३) अनैकान्तिक हेत्वाभास ।

विवेचन—जिसमें हेतु का लक्षण न हो फिर भी जो हेतु मरीछा प्रतीत होता हो वह हेत्वाभास है । उसके उदाहरण तोन हैं—

असिद्ध हेत्वाभास

यस्यान्यथानुपपत्तिः प्रमायेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः ॥४८॥
स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ॥ ४९ ॥

उभयासिद्धो यथा—परिणामी शब्दः शाश्वतत्वात् ॥ ४९॥
अन्यतरासिद्धो यथा—मनंतनास्तरथा, विज्ञानेन्द्रिया-

युनिरोपलक्षणमग्नरहितत्वात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिसकी व्याप्ति प्रमाण में निश्चित न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं ॥

वह दो प्रकार का है—उभयासिद्ध और अन्यतरासिद्ध ।

‘उभय परिणामी है, क्योंकि शाश्वत है’ यहाँ शाश्वतत्व ही उभयासिद्ध है ।

‘यून अवेतन है, क्योंकि वे ज्ञान, इन्द्रिय और आत्मा की समस्त रूप मृग्य में रहित हैं’ यहाँ अन्यतरासिद्ध हेतु है ।

विवेचन—जो हेतु किसी को प्रतीति की आवश्यकता के बिना नहीं माना वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है । या यों ही सिद्ध न हो वह उभयासिद्ध हेतु है । जिस यहाँ शब्द का शाश्वतत्व

नित्यता और सर्वथा अनित्यता में विरुद्ध कर्तव्य नित्य होता है वही प्रत्याभिज्ञानवान् होता है । अतः यह विरुद्ध हेत्वाभास है ।

अनैकान्तिक हेत्वाभास

यम्यान्यथानुपपत्तिः मन्दिषते मौर्झैकान्तिकः ॥५५॥
स द्वेषा निर्णीतविपक्षवृत्तिकः मन्दिग्यविपक्षवृत्तिकश्च ॥
निर्णीतविपक्षवृत्तिको यथा-नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् ॥
संदिग्धविपक्षवृत्तिको यथा-विवादापन्नः पुरुषः सर्वज्ञो
न भवति वक्तृत्वात् ॥५७॥

अर्थ—जिम हेतु की अन्यथानुपपत्ति (व्याप्ति) में मन्द हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाना है ॥

अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकार का है—निर्णीतविपक्ष वृत्तिक और संदिग्ध विपक्षवृत्तिक ।

शब्द नित्य है क्योंकि वह प्रमेय है, यहाँ प्रमेयत्व ही निर्णीतविपक्षवृत्तिक है ।

विवादापन्न पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वक्ता है; यहाँ वक्तृत्व हेतु संदिग्ध विपक्ष वृत्तिक है ।

विवेचन—जहाँ साध्य का अभाव हो वह विपक्ष कहलाना है । और विपक्ष में जो हेतु रहता हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है । जिम हेतु का विपक्ष में रहना निश्चित हो वह निर्णीतविपक्षवृत्तिक है और जिम हेतु का विपक्ष में रहना संदिग्ध हो वह संदिग्धविपक्षवृत्तिक अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाना है ।

विवेचन—माध्यम्य दृष्टान्त में माध्य और मायन का भिन्न रूप में अभिव्यक्ति होना चाहिए । जिस दृष्टान्त में माध्य का, मायन का या दोनों का अभिव्यक्ति न हो, या अभिव्यक्ति अनिश्चित हो अथवा माध्यम्य दृष्टान्त का ठीक तरह प्रयोग न किया गया हो वह माध्यम्य दृष्टान्ताभास कहलाता है ।

(१) माध्य-विकलदृष्टान्ताभास

तत्रार्थारूपेणः शब्दोऽमूर्तत्वात्, दुःखमिति माध्यम्य-
विकलः ॥ ६० ॥

अर्थ—शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि अमूर्त है, जैसे दुःख । यहाँ दुःख उदाहरण माध्यविकल है क्योंकि उसमें अपौरुषेयत्व मान नहीं रहता ॥

(१) साधनधर्मविकल दृष्टान्ताभास

तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुमिति
साधनधर्मविकलः ॥ ६१ ॥

अर्थ—इसी प्रतिज्ञा में और इसी हेतु में 'परमाणु' का उदाहरण साधनविकल है ।

विवेचन—शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है, जैसे परमाणु; यहाँ परमाणु में अमूर्तता हेतु नहीं पाया जाता, क्योंकि परमाणु मूर्त है । अतः यह साधनविकल दृष्टान्ताभास हुआ ।

(१) उभयधर्मविकल दृष्टान्ताभास

अर्थ—पूर्वोक्त अनुमान में कलरा का उदाहरण देना उभय-
पक्ष है ।

विशेष—कलरा पुरुषरूप और मूर्त है अतः उसमें अपौ-
रोक्ष्य साध्य और अमूर्तत्व हेतु दोनों नहीं हैं ।

(७) सदिग्धसाध्यधर्म दृष्टान्ताभास

रागादिमानयं एकवृत्त्यात्, देवदत्तवदिति संदिग्ध-
ष्यधर्मा ॥ ६३ ॥

अर्थ—यह पुरुष राग आदि बाना है, क्योंकि बता है, जैसे
विद्वत् । यही देवदत्त दृष्टान्त सदिग्धसाध्यधर्म है ।

विशेष—जिस दृष्टान्त में साध्य का गटना संदिग्ध हो वह
दृष्टान्त सादृश्यसाध्यधर्म कहलाता है । देवदत्त में राग आदिक साध्य
के गटने में संदेह है अतः देवदत्त दृष्टान्त सदिग्धसाध्यधर्म है ।

(८) सदिग्धसाधनधर्म दृष्टान्ताभास

मरणधर्माऽयं रागादिमत्त्वान्मैत्रवदिति संदिग्धसाधन-
धर्मा ॥ ६४ ॥

अर्थ—‘यह पुरुष मरणशील है’ क्योंकि रागादिबासा है,
जैसे मैत्र । यही मैत्र दृष्टान्त सदिग्धसाधनधर्म है ।

विशेष—मैत्र नामक पुरुष में रागादित्व हेतु के गटने में
सन्देह है अतः मैत्र उदाहरण सदिग्धसाधनधर्मदृष्टान्ताभास है ।

(१) मंदित्यवयवमदृष्टान्ताभाम

नायं सर्वदर्शी रागादिमत्त्वान्मुनिविशेषवदित्युपपद्यते ।

अर्थ—यह पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि रागादि बाधा जैसा अमुक मुनि । यह मंदित्य-वयव दृष्टान्ताभाम है । क्योंकि वह मुनि में सर्वज्ञता का अभाव और रागादिमत्त्व दोनों का ही मंदित्य है ।

(२) अनन्यव दृष्टान्ताभाम

रागादिमान् विवक्षितः पुरुषो बभूव्यादिदृष्टान्ताभाम
रथनन्यव; ॥ ६६ ॥

अर्थ—विवक्षित पुरुष रागादि बाधा है, क्योंकि बन्ना है, कोरे इष्ट पुरुष ।

विवेचन—जिस दृष्टान्त में अन्यव दृष्टान्ति न बन गई अनन्यव दृष्टान्ताभाम कहते हैं । यहाँ इष्ट पुरुष में रागादिमत्त्व बभूव्या-तोनों मौजूद रहने पर भी जो जो 'बन्ना होता है वह रागादि बाधा होता है' एसी अन्यव दृष्टान्ति नहीं बनता । क्योंकि वह भगवान् बन्ना है वह रागादि बाधा नहीं है । अतः 'इष्ट पुरुष' दृष्टान्त अनन्यव दृष्टान्ताभाम है ।

(३) अवर्तिमानन्यव दृष्टान्ताभाम

अनित्यः शुद्धः कृतकत्वात्, परवदित्यवर्तिमानन्यवः ।

अर्थ—अनित्य अवर्तिमान है, क्योंकि कृतक है, अतः वह अनित्य अवर्तिमानन्यव दृष्टान्ताभाम है ।

(१) नितीकण्ठनिरेक दृष्टान्नाभाय

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तदित्यं कृतक-
उक्ताशम्, इति विपरिन्त्यतिरेकः ॥ ७६ ॥

अर्थ—शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है। जो कृतक होता है वह निरा होता है, जैसे आकाश। यहाँ आकाश दृष्टान्त विपरिन्त्य-
व्यतिरेक दृष्टान्नाभाय है क्योंकि यहाँ व्यतिरेक अर्थात् विपरिन्त्य
बनाई गई है। अर्थात् माध्य के अभाव में माधन का अभाव बताने
चाहिए तो माधन के अभाव में माध्य का अभाव बता दिया है।

उपनयनाभाय और निगमनाभाय

उक्तलक्षणोद्भूतनेनोपनयनिगमनयोर्वचने तदामासौ ॥

यथा परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, यः कृतकः स
परिणामी यथा कुम्भः, इत्यत्र परिणामी च शब्दः कृतकत्वात्
कुम्भ इति च ॥ ८१ ॥

तस्मिन्नेव प्रयोगे तस्मात् कृतकः शब्द इति, तस्मात्
परिणामी कुम्भ इति ॥ ८२ ॥

अर्थ—उपनय और निगमन का पहले जो लक्षण कहा गया
है उसका उल्लंघन करके उपनय और निगमन दोनों में उपनयनाभाय
और निगमनाभाय हो जाते हैं ॥

गक है, जो हाक होना है वह परिणामी होना है जैसे कुम्भ; यहाँ गक परिणामी है' या 'कुम्भ कृतक है' इस प्रकार कहना ॥

और इसी अनुमान में 'इमलिए शब्द कृतक है' अथवा 'इमलिए शब्द परिणामी है' ऐसा कहना निगमनाभास है ॥

निवेदन—पक्ष में हेतु का दोहराना उपनय कहलाता है। हेतु को न दोहरा कर किसी और को दोहराना उपनयभास है। जैसे पक्ष 'गक परिणामी है' यहाँ पक्ष में माध्य को दोहराया गया है और 'कुम्भ कृतक है' यहाँ पर मवक्ष (दृष्टान्त) में हेतु दोहराया गया है, अतः यह दोनों उपनयभास है।

पक्ष में माध्य का दोहराना निगमन है। और पक्ष में माध्य को न दोहरा कर, किसी को किसी में दोहरा देना निगमनाभास है। जैसे यहाँ पक्ष (शब्द) में पक्ष अगद कृतक हेतु को दोहरा दिया है और दूसरी अगद मवक्ष (कुम्भ) में माध्य को दोहराया है: 'इस लिए शब्द परिणामी है' ऐसा कहना निगमन होना किन्तु 'इमलिए शब्द गक है' 'इमलिए कुम्भ परिणामी है' ऐसा कहना निगमनाभास है।

आगमभास

आगमामाम का उदाहरण

यथामेकलकन्यकायाः कृते, तालहितालपोर्मले मुलमाः
पिण्डखर्जुराः सन्ति, त्वरितं गच्छत गच्छत बालकाः ॥ ८४ ॥

अर्थ—जैसे रेवा नदी के किनारे, ताल और दिनाज वृक्षों के
नीचे पिण्ड खजूर पड़े हैं—बच्चों ! जाओ, जल्दी जाओ ॥

विवेचन—वामन में रेवा नदी के किनारे पिण्डखजूर नहीं हैं,
फिर भी कोई व्यक्ति बच्चों को बहकाने के लिए भूठभूठ ऐसा बहना
है। इस कथन को सुनकर बच्चों को पिण्डखजूर का ज्ञान होवे
आगमामाम है।

प्रमाण सत्याभास

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्यानं तस्य संख्या
ऽऽमाप्तम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—एक मात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, इत्यादि प्रमाण की
मिथ्या संख्या जाना संख्याभास है।

विवेचन—वामन में प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद
हैं, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इन दोनों में विपरीत एक, दो,
तीन, चार आदि भेद मानना संख्याभास या भेदाभास है। कौन
कितने प्रमाण मानने हैं यह भी पहले ही बताया जा चुका है।

विशेषाभास

सामान्यमेव, विशेष एव, तद् द्वयं वा स्वतन्त्रमित्यादि-
नस्य विषयामामः ॥ ८६ ॥

सातवाँ परिच्छेद

नयों का विवेचन



नय का स्वरूप

नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तादि-
तरांशोदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥ १ ॥

अर्थ - श्रुतज्ञान द्वारा जाने हुए वस्तु का एक धर्म, अन्य धर्मों को गौण करके, जिस अभिप्राय से जाना जाता है, वस्तु का यह अभिप्राय नय कहलाता है।

विवेचन—श्रुतज्ञान रूप प्रमाण अनन्त धर्म वाली वस्तु को प्रदण्य करता है। उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है। नय जब वस्तु के एक धर्म को जानता है सब शेष रहे हुए धर्म भी वस्तु में विद्यमान तो रहते ही हैं किन्तु उन्हें गौण कर दिया जाता है। इस प्रकार मिले एक धर्म को मुख्य करके उसे जानने वाला ज्ञान नय है।

नयभास का स्वरूप

स्वाभिप्रेतादंशादिनगंशापलापी पुनर्नयामासः ॥ २ ॥

अर्थ—घटने घटीष्ट आदि के अनिश्चित अथवा घटने का अनज्ञान करने वाला नयभास है।

द्रव्याधिक नय के भेद

आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा ॥ ६ ॥

अर्थ—द्रव्याधिक नय तीन प्रकार का है—(१) नैगम नय (२) संग्रह नय और (३) व्यवहार नय ।

नैगमनय

धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोरच प्रधानोपमर्जनमात्रेण परि-
वर्णं स नैकगमो नैगमः ॥ ७ ॥

(सत्त्वतन्यमान्मनीति धर्मयोः ॥ ८ ॥

(वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः ॥ ९ ॥

धर्मेकं सुखी विषयामकनर्त्तय इति धर्मधर्मिणोः ॥ १० ॥

अर्थ—दो धर्मों की, दो धर्मियों की और धर्म-धर्मि की प्रत्यक्ष और गौण रूप में विवक्षा करना, इस प्रकार अनेक मार्गों से धर्म का बोध कराने वाला नय नैगमनय कहलाता है ॥

दो धर्मों का प्रधान-गौण भाव—त्रैमे आत्मा में मत्त है युक्त औरन्य है ॥

दो धर्मियों का प्रधान-गौणभाव—त्रैमे पर्याय बन्धा इति बन्धु कहलाता है ॥

धर्म-धर्मि का प्रधान गौणभाव—त्रैमे विषयामक और वर सुखी होता है ॥

विवेचन—दो धर्मों में से एक धर्म की मूल्य रूप में विवक्षा

प्रकार दूसरे अंश का अवलोकन करने से यह नवाभास हो गया है।
वेदान्त दर्शन परमव्याभास है क्योंकि वह एकान्त रूप में सत्ता है।
ही तत्त्व मानना और विशेषों को मिथ्या बताना है । *

अपर सम्प्रदानय

द्रव्यत्वादीनि अवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तदुभेदे
गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः ॥ १६ ॥

धर्माधर्माकारकालपुद्गलजीवद्रव्याणामेक्यं द्रव्यत्व
भेदादित्पादिर्यथा ॥ २० ॥

अर्थ—द्रव्यत्व पर्यायत्व आदि अपर सामान्यों को छोड़
करने वाला और उन अपर सामान्यों के भेदों में उदासीनता रख
वाला नय अपर संग्रहय कहलाता है ॥

जैसे—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इत्यादि
सब एक हैं क्योंकि सब में एक द्रव्यत्व विद्यमान है ॥

विशेषण—क्षेत्रों द्रव्यों में समान रूप से रहने वाला द्रव्यत्व
अपर सामान्य है । अपर संग्रह नय, अपर सामान्य को प्रिय बताना
है । अतः इसकी दृष्टि में द्रव्यत्व एक होने में सभी द्रव्य एक हैं ।

अपरमहाभास

द्रव्यत्वादिकं प्रतिज्ञानानस्तद्विशेषाभिद्वयानस्तदभासः ॥

यथा द्रव्यन्यमेव तत्त्वं, तत्राऽप्यान्तराभूतानां द्रव्यानामनु-
सन्धेः ॥ २२ ॥

अर्थ—द्रव्यत्व आदि अपरमामान्यों को स्वीकार करने वाला और उनके भेदों का निषेध करने वाला अभिप्राय अपरममह-न्याभास है ।

जैसे—द्रव्यत्व ही वास्तविक है, उसमें भिन्न धर्म आदि द्रव्य-वस्तुत्व नहीं होते ॥

विवेचन—द्रव्यत्व आदि सामान्यों को अपर ममहन्त्य स्वी-कार करता है पर वह उनके भेदों का धर्म आदि द्रव्यों का निषेध नहीं करता; वह अपरममह न्याभास अपर सामान्य का भेदों का निषेध करता है, इसलिए न्याभास है ।

व्यवहारनय

मंग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहर्णं पेना-
भिसन्धिना क्रियते न व्यवहारः ॥ २३ ॥

यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्याप्तं वा ॥ २४ ॥

कृत, सामान्य में भेद करना व्यवहार नय का कार्य है। उदाहरणार्थ—
मंप्रहृतय ने मत्ता रूप अभेद माना, व्यवहार उमके दो भेद करता
है—द्रव्य और पर्याय ।

व्यवहारनयाभास

यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यव-

हारमासः ॥ २५ ॥

यथा—चार्वाकदर्शनम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो नय द्रव्य और पर्याय का अवास्तविक भेद स्वी-
कार करता है वह व्यवहारनयाभास है ॥

जैसे—चार्वाक दर्शन ॥

विशेष—द्रव्य और पर्याय का वास्तविक भेद मानना व्यवहार न
है और मिथ्या भेद मानना व्यवहारनयाभास है । चार्वाक दर्श
वास्तविक द्रव्य और पर्याय के भेद को स्वीकार नहीं करता किन्तु
अवास्तविक भूत-चतुष्टय को स्वीकार करता है । अतः चार्वाक दर्शन
(नामिक मत) व्यवहार नयाभास है ।

पर्यायार्थिकनय के भेद

पर्यायार्थिकचतुर्धा—अनुसूत्रः शब्दः समभिस्तु एवं-
भूतश्च ॥ २७ ॥

अर्थ—पर्यायार्थिकनय चार प्रकार का है—(१) अनुसूत्र
(२) शब्द (३) समभिस्तु और (४) एवभूत ।

अनुसूत्रनय

अनु—वर्तमानक्षणम्यापि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः पूर-

यन्नभिप्रायः अनुसूत्रः ॥ २८ ॥

शब्दनय

कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ॥३२॥

यथा वभूव भवति भविष्यति सुमेरुस्त्यादिः ॥३३॥

अर्थ—काल आदि के भेद से शब्द के वाच्य अर्थ में भेद मानने वाला नय शब्दनय कहलाता है ॥

जैसे—सुमेरु था, सुमेरु है, और सुमेरु होगा ॥

विवेचन—शब्दनय और आगे के समभिस्तु नया पर्वधन नय शब्द को प्रगत मानकर उससे वाच्य अर्थ का निरूपण करते हैं इसलिये इन तीनों को शब्दनय कहते हैं ।

काल, काक, जिंग और वचन से भेद से पदार्थ में भेद मानने वाला नय शब्दनय कहलाता है । उदाहरणार्थ—सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा, इन तीन वाक्यों में एक सुमेरु का स्थान सम्बन्धी अस्तिन्व बनाया गया है, पर यहाँ काल का भेद है शब्द नय सुमेरु को तीन रूप स्वीकार करना है ।

शब्दनयामाय

तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदामायः

यथा वभूव भवति भविष्यति सुमेरुस्त्यादिः

कालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकार्त्तु

तद्वत्किद्वान्यशब्दवदित्यादि ॥ ३४ ॥

अर्थ—काल आदि के भेद से शब्द के वाच्य अर्थ में भेद मानने वाला अभिप्राय शब्दनयामाय है ॥

जैसे—सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा इत्यादि भिन्न कालवाचक शब्द सर्वथा भिन्न पदार्थों का कथन करने हैं, क्योंकि ये भिन्न कालवाचक शब्द हैं, जैसे भिन्न पदार्थों का कथन करने वाला हमारे भिन्नकालीन शब्द अर्थात् अगच्छत, भविष्यत् और पश्चि-
त् आदि ॥

विशेषण—काल का भेद होने से पर्याय का भेद होना है फिर भी द्रव्य एक वस्तु बना रहता है । अर्थात् नये पर्याय-शब्द वाला है यद्यः वह भिन्न भिन्न पर्यायों को ही स्वीकार करता है, द्रव्य को गौण करके इसकी चर्चा करता है । परन्तु शब्दन्यायमान विभिन्न कालों में अनुगत होने वाले द्रव्य का सर्वथा निषेध करता है । इसीलिए यह नवनाम है ।

समभिरुद्ध नव

पर्यायशब्देण निरुक्तिभेदेन भिन्नमयं समभिरुद्धं
समभिरुद्धः ॥ ३६ ॥

इन्द्रनादिन्द्रः, शङ्खनाच्छङ्कः, पद्मिनीनाद् पुन्दर इत्या-
दिषु यथा ॥ ३७ ॥

अर्थ पर्यायवाचक शब्दों में निरुक्ति के भेद से अर्थ का भेद मानने वाला समभिरुद्ध नव कहलाता है ॥

जैसे—देरघर्य भोगने वाला इन्द्र है, सामर्थ्य वाला राजा है और शत्रु-नाश करने वाला पुन्दर, कहलाता है ॥

विशेषण—शब्दनय काल आदि के भेद से पदार्थ में भेद मानता है पर समभिरुद्ध उससे एक कदम आगे बढ़कर काल आदि

का भेद न होने पर भी केवल पर्याय-वाची शब्दों के भेद में ही पर
में भेद मान लेता है ।

इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द—तीनों एक इन्द्र के वाचक
किन्तु समभिन्न नय इन शब्दों की व्युत्पत्ति के भेद वा दृष्टि गीत
है और कहता है कि जब तीनों शब्दों की व्युत्पत्ति पृथक्-पृथक् है तो
तीनों शब्दों का वाच्य पदार्थ एक कैसे हो सकता है ? अतः पर्याय
वाची शब्द के भेद में अर्थ में भेद मानना चाहिये ।

इस प्रकार समभिन्न नय अर्थ सम्बन्धी अभेद को नि
कारके पर्याय भेद में अर्थ में भेद स्वीकार करना है ।

समभिन्न नयभाष्य

पर्यायव्यनीनामभिधेयनानान्वयमेव कर्त्ताह्यामन्ता
मासः ॥ ३८ ॥

यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा विभक्ति
धिया एव, मिश्रशब्दव्यान्, करिदुग्धतुल्यवदित्यादिः ॥ ३९ ॥

अर्थ—एकान्वय रूप में पर्याय वाचक शब्दों के वाच्य का
में भेद मानने वाला अभिप्राय समभिन्न नयभाष्य में है ॥

टीका—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि एक ही विभक्ति नय
के वाचक हैं । क्योंकि वे विभक्ति शब्द हैं, जैसे की (कर्त्ता)
पुत्र (द्विज) और मुनि (मोक्ष) शब्द ॥

निर्देश—समभिन्न नय पर्याय भेद में अर्थ में भेद स्वीकार
करना है पर अभेद का निर्देश नहीं करना, जो केवल हीन मत है

समभिरुद् नयाभास पर्यायवाचक शब्दों के अर्थ में रहने वाले शब्द का निषेध करके एकान्त भेद का ही समर्थन करता है। इससे यह नयाभास है।

एवंभूत नय

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं वाच्य-

तेनाम्पुणगच्छयेवंभूतः ॥ ४० ॥

यथा-इन्दनमनुभवमिन्द्रः शकनक्रियापरिणतः शक्रः,

परिणतप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—शब्द की प्रवृत्ति की निमित्त रूप क्रिया में युक्त पदार्थ में उस शब्द का वाच्य मानने वाला नय एवंभूत नय है ॥

जैसे—इन्दन (तापय-भोग) रूप क्रिया के होने पर ही इन्द्र कहा जा सकता है, शकन (सामर्थ्य) रूप क्रिया के होने पर ही शक्र कहा जा सकता है और पुराण (उत्पन्न) रूप क्रिया के होने पर ही पुरन्दर कहा जा सकता है।

विशेष—एवंभूत नय वह जिनका है जिसके अनुसार प्रत्येक शब्द क्रियाशब्द ही है। वाचक शब्द से किसी न किसी क्रिया का अर्थ प्रकट होता है। तभी अवाधा में, जिस शब्द में जिस क्रिया का भाव प्रकट होता हो, उस क्रिया में युक्त पदार्थ को उसी समय उस शब्द में कहा जा सकता है। जिस समय में वह क्रिया विद्यमान हो उस समय उस क्रिया का मुख्य शब्द प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। जैसे वाचक शब्द से पकाने की क्रिया का बोध होता है तब तब जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को पका रहा हो तभी

पाचक कहा जा सकता है, अन्य समय में नहीं। यही मन्वन्तर, ईश्वर और पुरन्दर राज्यों के उदाहरण में समझाया गया है। इस रीति-कोण को एवंभूत नय कहते हैं।

एवंभूत नयमात्र

क्रियाभ्याविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिविषंस्तु तदा
मासः ॥४२॥

यथा—विशिष्टनेष्टाशून्यं घटास्त्वं वस्तु न पटशब्द-
वाच्यं, पटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटादि-
त्यादिः ॥ ४३ ॥

अर्थ—क्रिया में रहित वस्तु को उस शब्द का वाच्य मानने
का निषेध करने वाला अभिप्राय एवंभूत नयमात्र है ॥

जैसे—विशेष प्रकार की घेष्टा में रहित पट नामक वस्तु
पट शब्द का वाच्य नहीं है क्योंकि वह पट शब्द को प्रतीक
कारण रूप क्रिया में रहित है, जैसे पट—आदि ॥

विशेष—एवंभूत नय समुक्त क्रिया में कुछ पदार्थ का ही
उस क्रिया-वाचक शब्द में अभिविहित जाता है, किन्तु साधने में जिस
दृष्टिकोण का निषेध नहीं करता। जो दृष्टिकोण पटशब्द रूप में
क्रिया-युक्त पदार्थ को ही शब्द का वाच्य मानने के साथ, उस क्रिया
में रहित वस्तु का उस शब्द के वाच्य होने का निषेध करता है वह
एवंभूत नयमात्र है। एवंभूत नयमात्र का दृष्टिकोण यह है कि
सागर पटल क्रिया में होने पर भी पट को पट कहा जान तो पर-
स्पर परस्परों को भी पट पट देना अनर्थात्क न होगा। फिर भी

भी पदार्थ किसी भी शब्द में कहा जा सकेगा। इस व्यवस्था का विवाह करने के लिए यही मानना उचित है। इस शब्द में जिस क्रिया का मान हो उस क्रिया का विशेष मानना में ही उस शब्द का प्रयोग किया जाय। अन्य मन्त्रों में उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

अर्थनय और शब्दनय का विभाग

एतेषु चत्वारः प्रथमैर्धर्मनिष्पत्ताप्रवर्णनादर्शनयाः ॥४४॥

शेषास्तु त्रय शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः ॥४५॥

अर्थ—इन मानों त्यों में पहले ४ चार नये पदार्थ का निरूपण करने वाले हैं इसलिये वे अर्थनय हैं ॥

अन्तिम तीन नये शब्द के वाच्य अर्थ को विषय करने वाले हैं इन कारणों इन्हें शब्दनय कहा है ॥

विवेचन—जैतम, मण्ड, मण्डली और अक्षुग्ध पदार्थ का प्रस्तुत करने हैं इसलिये इन्हें अर्थनय कहा गया है और शब्द, मण्ड, मिच्छा और एषभूत—यह तीन नये कि न शब्द का वाच्य कहा होता है—यह निरूपण करने हैं, इसलिये यह शब्दनय कहा जाने हैं।

पूर्वों के विषय में अक्षुग्ध

पूर्वो पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परिमित-विषयः ॥ ४६ ॥

अर्थ—प्राग ज्यों में पहले-पहले के नये अक्षुग्ध-अक्षुग्ध विषय वाले हैं और पिछले-पिछले कम विषय वाले हैं।

विवेचन—मानों नयों के विषय की न्यूनाधिकता यहाँ सामान्य रूप में धनाई गई है। पहले वाला नय विज्ञान विषय वाला और पीछे का नय संक्षिप्त विषय वाला है। नात्पर्य यह है कि नैगम नय मदमें विशाल दृष्टिकोण है। फिर उत्तमेतर दृष्टिकोणों में सूक्ष्मता आती गई है। विशेष विवरण सूत्रकार ने स्वयं दिया है।

व्यवहृत्य का स्पष्टीकरण

सन्मात्रगोचरात् संग्रहार्त्तगमो भावामावभूमिकत्वाद्
भूमविषयः ॥ ४७ ॥

सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तमन्मर्शो-
पदर्शकत्वात् बहुविषयः ॥ ४८ ॥

वर्तमानविषयादनुसूत्राद् व्यवहारत्रिकालविषयावल-
म्बित्वादनन्वार्थः ॥ ४९ ॥

कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दाद्-अनुसूत्रमा-
द्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः ॥ ५० ॥

प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरुदाच्छब्दम-
द्विपर्ययानुपायित्वात् प्रभृतविषयः ॥ ५१ ॥

प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतान् समभि-
रुदस्तदन्यथार्थस्थापकत्वान्महागोचरः ॥ ५२ ॥

धर्म—मिहै मत्ता को विषय करने वाले सम्प्रदान की
अपेक्षा मत्ता और अमत्ता को विषय करने वाला नैगम नय अधिक

पदार्थ को भिन्न मान लेता है। इस प्रकार नय क्रमशः सूक्ष्मता और बढ़ते हैं और पर्यभूतनय सूक्ष्मता की परीक्षा कर देता है।

नयप्रसंगी

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाम्ना
सप्तमंगीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

अर्थ—नय-वाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्ति करना इस विधि और निषेध की विवक्षा में सप्तमंगी को प्राप्त होता है।

विवेचन—विकलादेश, नयवाक्य कहलाता है। उसका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। जैसे विधि और निषेध की विवक्षा से प्रमाण-सप्तमंगी बनती है उसी प्रकार नय की भी सप्तमंगी बनती है। नय-सप्तमंगी में भी 'स्यात्' पद और 'एव' लगाया जाता है। प्रमाण-सप्तमंगी वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करती है और नय-सप्तमंगी वस्तु के एक अंश को प्रकाशित करती है। यही दोनों में अन्तर है।

नय का फल

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—प्रमाण के समान नय के फल की व्यवस्था करना चाहिए।

विवेचन—प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति होना बताया गया है, वही फल नय का भी है। किन्तु प्रमाण से वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है और नय से वस्तु के

पदार्थ को भिन्न मान लेना है। इस प्रकार नय क्रमशः मूर्तता को और बढ़ते हैं और एवंभूतनय मूर्तता की परीक्षा कर देना है।

नयसप्तभंगी

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधिप्रतिषेधार्था-
सप्तभंगीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

अर्थ—नय-वाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्ति करना हुआ विधि और निषेध की विवक्षा से सप्तभंगी को प्राप्त होता है।

विवेचन—विकल्पादेग, नयवाक्य कहलाता है। उसका स रूप पहले बताया जा चुका है। जैसे विधि और निषेध की विवर से प्रमाण-सप्तभंगी बनती है उसी प्रकार नय की भी सप्तभंगी बनती है। नय-सप्तभंगी में भी 'स्यान्' पद और 'एव' लगाश जाता है। प्रमाण-सप्तभंगी सम्पूर्ण वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करती है और नय-सप्तभंगी वस्तु के एक अंश को प्रकाशित करती है। यही दोनों में अन्तर है।

नय का फल

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ॥५४॥

अर्थ—प्रमाण के समान नय के फल की व्यवस्था करना चाहिये।

विवेचन—प्रमाण का मातान् फल अज्ञान की निवृत्ति होता बताया गया है, वही फल नय का भी है। किन्तु प्रमाण में वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है और नय से वस्तु के अंश-

नयी अज्ञान की निवृत्ति होती है । इसी प्रकार वस्तु के अश-विषयक उपादानबुद्धि, हानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि नय का परोक्षफल समझना चाहिए ।

दोनों प्रकार का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न है, इसी प्रकार नय का फल नय से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है ।

प्रमाता का स्वरूप

प्रमाता ग्रन्थसादिप्रसिद्ध आत्मा ॥ ५५ ॥ ॐ—

चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेह-
परिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पाद्गलिकादृष्टवांथायम् ॥५६॥

अर्थ—ग्रन्थरु आदि प्रमाणों से सिद्ध आत्मा प्रमाता कहलाता है ॥

आत्मा चैतन्यमय है, परिणामनशील है, कर्मों का कर्ता है, कर्मफल का साक्षी भोक्ता है, अपने प्राप्त शरीर के धराधर है, प्रत्येक शरीर में भिन्न है और पुद्गलरूप अदृष्ट (कर्म) वाला है ।

विवेचन—आर्वाक लोग आत्मा नहीं मानते । उनके मन का लण्डन करने के लिए यहाँ यह बनाया गया है कि आत्मा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से सिद्ध है । 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार स्वर्गवेदन प्रत्यक्ष आत्मा का अभित्त्य सिद्ध करता है । तथा 'रूप आदि के ज्ञान का कोई कर्ता अभाव है, क्योंकि वह क्रिया है, जो क्रिया होती है, उसका कोई कर्ता अभाव होता है, जैसे काटने की क्रिया । जानने की क्रिया का जो कर्ता है वही आत्मा है । इस प्रकार

पदार्थ को भिन्न मान लेता है। इस प्रकार नय क्रमशः मूढ़मता को छोड़ बढ़ते हैं और पर्यभूतनय मूढ़मता की पराकाष्ठा कर देता है।

नयसप्तमंगी

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाम्यां-
सप्तमंगीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

अर्थ—नय-वाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्ति करना हुआ विधि और निषेध की विवक्षा से सप्तमंगी को प्राप्त होता है।

विवेचन—विकलादेश, नयवाक्य कहलाना है। उसका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। जैसे विधि और निषेध की विवक्षा से प्रमाण-सप्तमंगी बनती है उसी प्रकार नय की भी सप्तमंगी बनती है। नय-सप्तमंगी में भी 'स्यान्' पद और 'एव' लगाया जाता है। प्रमाण-सप्तमंगी सम्पूर्ण वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करती है और नय-सप्तमंगी वस्तु के एक अंश को प्रकाशित करती है। यही दोनों में अन्तर है।

नय का फल

प्रमाणपदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—प्रमाण के समान नय के फल की व्यवस्था करना चाहिये।

विवेचन—प्रमाण का सातान् फल अज्ञान की निवृत्ति होना बताया गया है, वही फल नय का भी है। किन्तु प्रमाण में वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है और नय से वस्तु के

अष्टम परिच्छेद वाद का निरूपण



वाद का अर्थ

विरुद्धयोर्धर्मयोरैकधर्मव्यवच्छेदेन स्वीकृतद्वन्द्वधर्म-
व्यवस्थापनार्थं माधनदूषणवचनं वादः ॥ १ ॥

अर्थ—परस्पर विरोधी दो धर्मों में से, एक धर्म को
अपने मान्य दूसरे धर्म की निन्दा के लिए माधन और दूषण का
प्रयोग करना वाद है।

विवेचन—आत्मा की सर्वथा नित्यता और कदाचिन् नित्यता
ये दो विरोधी धर्म हैं। इनमें से किसी भी एक धर्म को स्वीकार करके,
और दूसरे धर्म का निषेध करके, वादी और प्रनिवादी अपने पक्ष को
साधन के लिए और विरोधी पक्ष को दूषित करने के लिए जो वचन-
प्रयोग करते हैं वह वाद कहलाना है। वादी को अपने पक्ष की निन्दा
और पर पक्ष का निराकरण—दोनों करने पड़ते हैं और इसी प्रकार
प्रनिवादी को भी दोनों ही कार्य करने पड़ते हैं।

वादी-प्रारम्भक के नेद

प्रारम्भकथात्र जिगीषुः, तत्त्वनिर्णिनीषुश्च ॥ २

बाह्य भेद ही होते हैं। प्रारम्भिक वा किस प्रत्यात्मिक के साथ बाद होना है और किसके साथ नहीं, यह हम नक़्शे से स्पष्ट ज्ञान होगा :-

प्रारम्भिक	प्रत्यारम्भिक				सामान्य संख्या
	त्रिगोण	स्वा. व. नि.	व. त. नि. बायो	प. व. वि. केंद्रभी	
त्रिगोण	हो सकता है	०	हो सकता है	हो सकता है	३
स्वा० वृत्तचिह्नितोण	०	०	"	"	५
व. त. बायोपरात्मिकमानो	हो सकता है	हो सकता है	"	"	४
प. व. केंद्रभी	"	"	"	०	३
सामान्य संख्या	३	५	४	३	१५

अंग-नियम

तत्र प्रथमे प्रथमवर्तुतीयतुगीयाणां चतुरङ्ग एव, अन्यत-
मस्याप्यप्राये जयपराजयव्यवस्थादिर्दोःस्थ्यापत्तेः ॥ १० ॥

अर्थ—पूर्वोक्त चार प्रारम्भों में से पहले त्रिगीषु के होने पर त्रिगीषु, परत्रतत्त्वनिर्णिनीषु सायोपशमिकज्ञानी और केवली प्रवा-
रम्भक का बाद चतुरंग होता है । किसी भी एक अङ्ग के अभाव में जय-पराजय की ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती ।

विवेचन—वादी, प्रनिवादी, मध्य और सभापति, वाद के यह चार अङ्ग होने हैं । त्रिगीषुवादी के साथ उस तीन प्रनिवातियों का बाद हो तो चारों अंगों की आवश्यकता है ।

द्वितीये तृतीयस्य कदाचिद् द्व्यङ्गः, कदाचिद् त्र्यङ्गः ॥ ११ ॥

अर्थ—दुमरे वादी—म्यात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु का तीसरे प्रनि-
वादी—सायोपशमिकज्ञानी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु का बाद कभी २
अङ्ग वाला और कभी तीन अङ्ग वाला होता है ।

विवेचन—म्यात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु जय-पराजय की उच्छ्वा-
से बाद में प्रवृत्त नहीं होता, अतः उसके साथ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु
सायोपशमिकज्ञानी का बाद होने पर मध्य और सभापति की आव-
श्यकता नहीं है, क्योंकि मध्य और सभापति जय-पराजय की व्यव-
स्था और कलह आदि की शान्ति करने के लिए होते हैं । अतएव
जब सायोपशमिकज्ञानी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु तत्त्व का निर्णय न कर
सके तो दोनों को मध्यों की आवश्यकता होती है । इसीलिये कभी तो
अंग वाला और कभी तीन अङ्ग वाला बाद बनलाया गया है ।

बारी-प्रतिबारी का कथन

प्रारम्भरूपप्रत्यारम्भकारेव मल्लप्रतिमल्लन्यायेन वारि-
प्रतिवादिनी ॥ १६ ॥

अर्थ—मल्ल और प्रतिमल्ल की मूर्ति प्रारम्भिक और प्रत्यारम्भिक क्रम से बारी और प्रतिबारी कहलाते हैं ।

बारी-प्रतिबारी का कर्मण्य

{ प्रमाणतः स्थापकस्थापनप्रतिपक्षप्रतिसेवानयोः कर्म ॥

अर्थ—प्रमाण में स्थापने पक्ष की स्थापना करना और विरोधी पक्ष का शमदन करना बारी और प्रतिबारी का कर्मण्य है ।

विशेषण—केवल स्थापने पक्ष की स्थापना कर देने में या केवल विरोधी पक्ष का शमदन कर देने में तत्त्व का निर्माण नहीं होता । अतः तत्त्वनिर्माण के लिए दोनों को दोनों कार्य करना चाहिए ।

मन्त्रों का कथन

वारिप्रतिवादिगिद्वान्तरमन्त्रदीप्कल्प-प्राप्त्या वादुभय-
प्रतिवा-वार्न्ति-माध्यम्यैरमयाविमकाः मन्त्राः ॥ १७ ॥

अर्थ—दो बारी और प्रतिबारी के गिद्वान्तर मन्त्रों के द्वारा ही प्रमाण, वादुभय, प्रतिवा, कर्मण्य और मन्त्रमन्त्रों में तत्त्व की स्थापना बारी और प्रतिबारी द्वारा ही कर विवेक से हो, ऐसे विवेक मन्त्र होंगे ।

अर्थ—वादी, प्रतिवादी और मध्यों के कथन का निष्पन्न करना, तथा कलह मिटाना आदि समापति के कर्तव्य हैं।

विवेचन—वादी-प्रतिवादी और मध्यों के कथन का निष्पन्न करना तथा वादी और प्रतिवादी में अगर कोई शर्त हुई हो तो उसे पूर्ण कराना अथवा वारितोषिक वितरण करना समापति का कर्तव्य है।

वादी-प्रतिवादी के बोलने का नियम

तत्रिणीषुकेऽस्मिन् पापन्मभ्यापेयं स्फूर्तिं यक्तव्यम् ॥२२॥

अर्थ—जब त्रिणीषु का त्रिणीषु के साथ वाद हो तो विजय होने पर जब तक मध्य आहें जब तक बोलने उठना चाहिये।

विवेचन—जब तक वादी प्रतिवादी में से कोई एक मध्यमापन और वापस दूबल करने में असमर्थ नहीं होता जब तक किसी विषय का निर्णय नहीं होता। इस अवस्था में वादी-प्रतिवादी को अपना अपना कर्तव्य सम्भालना चाहिये। जब मध्य बोलने का नियम करदे जब बंद कर देना चाहिये। यह त्रिणीषु-वाद के नियम हैं।

उपशोपननिर्गिणीषुर्गं पारस्वग्यनिर्णयं पापन्महर्तिं यक्तव्यम् ॥ २३ ॥

अर्थ—दोनों-वादी प्रतिवादी यदि तत्त्वनिर्दिष्टीय हों तो मध्य का निर्णय होने तक उन्हें बोलना चाहिये। अगर तत्त्वनिर्णय न हो तो और वादी वा प्रतिवादी को आगे बोलना न मूढ़ रहे तो जब तक मध्य बंद जब तक बोलना चाहिये।

७ । “इतरथापि भवेदनात्” ; “विधिमात्रादिप्रधानतयापि तस्य प्रमिदोः” ; “तद्विपरीतस्तु विकलादेशः”—एषा सूत्राणां मन्त्रनि-
प्रदर्शनपूर्वकं व्याख्यानं कुर्वन्तु श्रीमन्तः ।

८ । “यन् प्रमाणेन प्रमाध्यते तदस्य फलम्” ; “प्रमातुर्गपि स्वपरव्यवभितिक्रियायाः कश्चिद्भेदः”—अनयोः सूत्रयोः मन्त्रनि-
प्रदर्श्य व्याख्यानं कार्यम् ।

९ । व्याप्तेः तर्कामाम्य च लक्षणमुद्धृत्य व्याख्यायताम् ।

१० । प्रत्यभिज्ञान-सूत्रयोश्च लक्षणं प्रदर्श्य मोक्षार्ण-
व्याक्रियताम् ।

सन् १६४ ?

पूर्वमंश्या—१०० । समयः १२-४ ।

[सर्वे प्रजाः समानमात्राः । पञ्च एव प्रजाः समानाभ्यः ।]

१ । श्वानिमनवगालयोर्द्वयोः प्रत्यक्षगोष्ठयोः यथा हि
अन्तर्वा प्रमाणानाम् अन्तर्भावः सा रीतिः प्रदर्शनीया ।

२ । श्वरायः ; व्यापदेशः ; अन्तर्गतनिवमन्त्रः ; विद्वद्
वेदवैज्ञानम् ; त्रिवर्णशक्तिः ; प्रमिदो धर्मा, इवेवा पदान्
वचनशब्दशक्ति मूलाणि समुल्लिख्य व्याख्यायन्ताम् ।

३ । गार्हपत्य-शक्ति-व्यवस्था-समाधानां स्वप्ने कस्मिन् काले
अन्तर्भावः ? नह विवर्णशक्ति संशयम् ।

